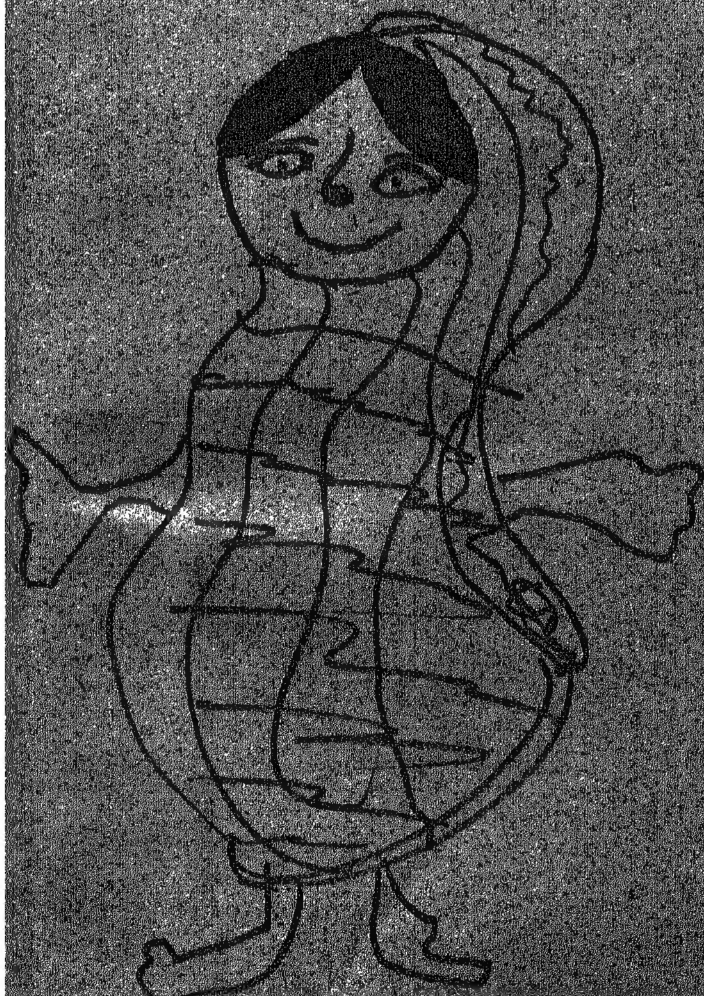

NAINI TAL
Class No. 291.38
Book No. P13M
813



मंजरी

[महाकोशल के साहित्यिकों की २१ श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह]

सम्पादक

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

तथा

श्री नर्मदाप्रसाद खरे

प्रकाशक

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर,

(Saraswati Publishing House)

जार्जटाउन, इलाहाबाद

२००१

प्रकाशक—

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर,

जार्जटाउन, इलाहाबाद

दूसरी आवृत्ति

मूल्य १।)

मुद्रक—
शालिग्राम वर्मा,
सरस्वती प्रेस,
जार्जटाउन, इलाहाबाद

निवेदन

कहानी का साहित्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। गम्भीर से गम्भीर विषय कहानी के द्वारा रोचक होकर बोधगम्य हो जाता है। कहानी के द्वारा हृदय में व्यापक सहानुभूति का उद्रेक होता है। कई निष्ठुर एवम् दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति कहानी पढ़ कर सहृदय बनते पाये गये हैं। इसीलिए नवयुग शिक्षा-विधान में कहानी का अपना एक विशिष्ट स्थान है। हमने इस संग्रह को तैयार करते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि हाईस्कूल के विद्यार्थी भी प्रान्त के कथा-साहित्य की प्रगति से परिचित हों और उनके मन में विद्यार्थी-जीवन से ही साहित्यकारों के प्रति सम्मान की भावना जागे। परिवार समाज और देश की ऐसी अनेक समस्याएँ हैं जिनसे विद्यार्थियों को अवश्य परिचित होना चाहिए; परन्तु विषय की जटिलता और सीमित पाठ्य-क्रम के निर्धारण के कारण यह सम्भव नहीं हो पाता। 'मंजरी' की कहानियाँ इस अभाव की पूर्त्ति में सहायक होंगी, ऐसा हमारा अनुमान है।

हिन्दी-साहित्य दिन प्रतिदिन उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। उसका कथा-साहित्य परिष्कृत होकर प्रौढ़ होता जा रहा है। हमें हर्ष है कि मध्यप्रान्त के लेखकों का जिस प्रकार साहित्य के अन्य क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार कथा-साहित्य में भी वे पीछे नहीं हैं। 'मंजरी' में हमने प्रान्त के चुने हुए कुछ ऐसे लेखकों की रचनाएँ दी हैं, जो न केवल प्रान्त में, बल्कि समस्त हिन्दी संसार में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

हमने कहानियों का क्रम लेखकों की महत्ता अथवा वय के अनुसार नहीं रखा है और न कहानियों की श्रेष्ठता के अनुसार ही यह क्रम दिया गया है। विषय की सरलता और विभिन्नता के कारण हमें यह क्रम देना पड़ा है।

जिन लेखकों की रचनाएँ हमने इस संग्रह में दी हैं, हम उनके कृतज्ञ हैं। हमें किसी-किसी कहानी में यथा-स्थान कुछ परिवर्तन भी करना पड़ा है। आशा है उदार लेखक हमें इसके लिए क्षमा करेंगे।

—सम्पादक

प्रकाशकीय

'मंजरी' के प्रकाशन से हमें अत्यानन्द हो रहा है। इस संग्रह के प्रकाशन से साहित्य-संसार को भलीभाँति ज्ञात हो जायगा कि हिन्दी कथा-साहित्य के विकास में मध्यप्रान्त अन्य प्रान्तों से किसी प्रकार भी पीछे नहीं है। गर्व की है कि यह पुस्तक कथा-साहित्य के मर्मज्ञ स्वनामधन्य श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और हिन्दी के सुप्रसिद्ध तरुण साहित्यिक श्री नर्मदाप्रसाद खरे के द्वारा सम्पादित हुई है। ये दोनों महानुभाव स्वतः सफल कहानी-लेखक हैं और इन्हें कहानी-कला का वैज्ञानिक अध्ययन है; इसलिए पुस्तक की श्रेष्ठता में कोई शंका तो है ही नहीं।

हमने संग्रह को काफी सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। हमारी इच्छा थी कि हम प्रत्येक लेखक का परिचय सचित्र छापते, परन्तु पुस्तक शीघ्रता में प्रकाशित हो रही है; इसलिए हम ऐसा करने में असमर्थ रहे। जो चित्र हमें शीघ्र सुलभ हो सके, वे दे दिये गये हैं। आशा है अगले संस्करण में हमारी यह इच्छा भी अवश्य पूरी हो सकेगी।

—प्रकाशक

कथा-क्रम

होली

"कल होली है"

"होगी।"

"क्या तुम न मनाओगे ?"

"नहीं।"

"नहीं ?"

"न।"

"क्यों ?"

"क्या बताऊँ, क्यों ?"

"आखिर कुछ सुनूँ भी तो।"

"सुनकर क्या करोगे ?"

"जो करते बनेगा।"

"तुमसे कुछ भी न बनेगा।"

"तो भी।"

"तो भी क्या कहूँ ? क्या तुम नहीं जानते होली या कोई भी त्योहार वही मनाता है जो सुखी है। जिसके जीवन में किसी प्रकार का सुख ही नहीं, वह त्योहार भला किस बिरते पर मनावे ?"

"तो क्या तुमसे होली खेलने न आऊँ ?"

"क्या करोगे आकर ?"

सकरुण दृष्टि से करुणा की ओर देखता हुआ नरेश साइकिल उठा कर घर चल दिया। करुणा अपने घर के काम-काज में लग गयी।

नरेश के जाने के आध घन्टे बाद ही करुणा के पति जगतप्रसाद ने घर में प्रवेश किया। उनकी आँखें लाल थीं ; मुँह से तेज शराब की बू आ रही थी। जलती हुई सिगरेट को एक ओर फेंकते हुए वे कुरसी खींच कर बैठ गये। भयभीत हिरणी की तरह पति की ओर देखते हुए करुणा ने पूछा—'दो दिन तक घर नहीं आये, क्या कुछ तबियत खराब थी ? यदि न आया करो तो खबर तो भिजवा दिया करो। मैं प्रतीक्षा में ही बैठी रहती हूँ।"

उन्होंने करुणा की बातों पर कुछ भी ध्यान न दिया। जेब से रुपये निकाल कर मेज पर ढेर लगाते हुए बोले—"पंडितानीजी की तरह रोज ही सीख दिया करती हो कि जुआ न खेलो, शराब न पियो, यह न करो, वह न करो। यदि मैं जुआ न खेलता तो आज मुझे इतने रुपये इकट्ठे कहाँ से मिल जाते ? देखो पूरे पन्द्रह सौ हैं। लो इन्हें उठाकर रखो, पर मुझसे बिना पूछे इनमें से एक पाई भी न खर्च करना समझीं !!"

करुणा जुए में जीते हुए रुपयों को मिट्टी समझती थी। गरीबी से दिन काटना उसे स्वीकार था, परन्तु चरित्र को भ्रष्ट करके धनवान बनना उसे प्रिय न था। वह जगतप्रसाद से बहुत डरती थी इसलिए अपने स्वतन्त्र विचार वह कभी भी प्रकट न कर सकती थी। उसे इसका अनुभव कई बार हो चुका था। अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने के लिए उसे कितना अपमान, कितनी लांछना और कितना तिरस्कार सहना पड़ा था ! यही कारण था कि आज भी वह अपने विचारों को अन्दर ही अन्दर दबा कर दबी हुई जबान से बोली—"रुपया उठाकर तुम्हीं न रख दो ? मेरे हाथ तो आटे में सने हैं।"

करुणा की इस इनकारी से जगतप्रसाद क्रोध से तिलमिला उठे। उन्होंने कड़ी आवाज से पूछा—

'क्या कहा ?"

करुणा कुछ न बोली। नीची नजर किये हुए आटा सानती रही। इस चुप्पी से जगतप्रसाद का पारा ११० डिग्री पर पहुँच गया। क्रोध

के आवेश में रुपये उठाकर उन्होंने फिर जेब में रख लिये—"यह तो मैं जानता ही था कि तुम यही करोगी। मैं तो समझा था इन दो-तीन दिनों में तुम्हारा दिमाग़ ठिकाने आ गया होगा। ऊट-पटाँग बातें भूल गयी होंगी और कुछ अकल आ गयी होगी। परन्तु सोचना व्यर्थ था। तुम्हें अपनी विद्वत्ता का घमंड है तो मुझे भी कुछ है। लो जाता हूँ, अब रहना सुख से!" कहते-कहते जगत प्रसाद कमरे से बाहर निकलने लगे।

पीछे से दौड़ कर करुणा ने उनके कोट का सिरा पकड़ लिया और विनीत स्वर से बोली—"रोटी तो खालो! मैं रुपये रख लेती हूँ। क्यों नाराज़ होते हो?"

एक ज़ोर के झटके के साथ कोट को छुड़ाकर जगत प्रसाद चल दिये। झटका लगने से करुणा पत्थर पर गिर पड़ी। उसका सिर फट गया। खून की धारा बह चली। साड़ी और जाकेट लाल हो गयी।

सन्ध्या का समय था। पास ही बाबू भगवतीप्रसाद के सामने के चौक से सुरीली आवाज़ आ रही थी।

"होली कैसे मनाऊँ?

सैयाँ विदेश, मैं द्वारे ठाढ़ी, कर मल-मल पछताऊँ।"

होली के दीवाने भंग के नशे में चूर थे। गाने वाली नर्तकी पर रुपयों की बौछार हो रही थी। जगतप्रसाद को अपनी दुखिया पत्नी का खयाल भी न था। रुपया बरसाने वालों में उन्हीं का सबसे पहला नम्बर था। इधर करुणा भूखी-प्यासी छटपटाती हुई चारपाई पर करवटें बदल रही थी।

"भाभी, दरवाजा खोलो"—किसी ने बाहर से आवाज़ दी। करुणा ने कष्ट के साथ उठ कर दरवाजा खोल दिया। देखा तो सामने रंग की पिचकारी लिये हुए नरेश खड़ा था।

नरेश के हाथ से पिचकारी छूट कर गिर पड़ी। उसने साश्चर्य पूछा—

"भाभी यह क्या ?"

करुणा की आँखें छलछला आयीं। उसने रुँधे हुए कंठ से कहा—'यही तो मेरी होली है भैया।'

गूँगी

गूँगी का नाम था गोमती। पर वह खूब बोलती थी, इसीसे मैंने उसका नाम गूँगी रख दिया था। गूँगी हो जाने पर भी गोमती की वाकशक्ति कम नहीं हुई। तो भी सब लोग उसे गूँगी ही कहते गये। गूँगी हम लोगों की दासी—विमला की लड़की थी। नीच वंश में जन्म देकर भी भगवान ने उसे कुछ ऐसा रूप दिया था कि उसे देखते ही सब लोग उसे गोद में ले लेना चाहते थे। वह प्रति दिन अपनी मा के साथ हमारे घर आती। जब तक विमला घर का काम-काज करती, वह मिनी के साथ खेलती। जब मिनी पढ़ने के लिए आती, तब वह भी आ जाती। पर वह चुप बैठ नहीं सकती थी, इसलिए वह भी मिनी के साथ पढ़ती थी।

गूँगी की बुद्धि भी तीव्र थी। मैंने देखा कि थोड़े ही दिनों में वह मिनी से भी आगे बढ़ गयी। उसकी ऐसी बुद्धि देख मैं उसे खूब उत्साह से पढ़ाने लगा। मैं पाँच वर्ष तक बिलासपुर में रहा और गूँगी पाँच वर्ष तक मुझसे पढ़ती रही। जब मुझे बिलासपुर छोड़ कर कलकत्ते जाना पड़ा, तब गूँगी ११ वर्ष की थी। पर उस समय भी उसने मुझसे बालिका-भूषण, भूगोल, अंकगणित और इतिहास के भी कुछ अंश पढ़ लिये थे। जाते समय मैं उसे 'रामचरित मानस' देता गया। मैं जानता था थोड़े ही दिनों में वह सब भूल जायगी।

मैं कलकत्ते आया था एक दैनिक पत्र का सम्पादक होकर। मैं अभी तक एक स्कूल मास्टर था। सम्पादक बनते ही मेरा सारा जीवन ही परिवर्तित हो गया। अपने गाँव की तो मुझे जरा भी खबर न थी, पर मेक्सिको और पेरू की छोटी-बड़ी सभी घटनाओं को प्रकाशित करने में मैं अग्र था। संसार के वृहत् जीवन में मेरा क्षुद्र जीवन लुप्त हो गया। भिन्न-भिन्न देशों की राजनीतिक समस्याओं के आगे मेरा यथार्थ बिलकुल सारहीन हो गया। छुट्टियों में जब अपने घर आता तब मुझे अपना गाँव ही अपरिचित प्रतीत होता था।

एक बार जब मैं घर आया, तब मेरा मस्तिष्क फिजी की राजनीतिक स्थिति की आलोचना में संलग्न था। मैं अपने ही विचारों में डूबा हुआ चुपचाप चला जा रहा था। उसी समय किसी ने कहा—"मास्टर साहब, आप कब आये ?"

मैं चौंक पड़ा! देखा एक सुन्दरी युवती मुझसे बातें कर रही थी। मैंने पूछा—"तुम कौन हो ?

उसने हँस कर कहा—"मैं तो गूँगी हूँ।"

मैं गूँगी की ओर चकित हो कर देखने लगा।

कलकत्ते में मैं १५ वर्ष तक रहा। १५ वर्ष के बाद मैं फिर स्कूल-मास्टर होकर श्रीरामपुर चला आया। शीतकाल का प्रारम्भ ही था; पर ठंड पड़ने लगी थी। मैं बाहर धूप में कुरसी डालकर आराम से 'स्टेट्समैन' पढ़ रहा था। कुछ देर में मैंने 'स्टेट्समैन' फेंक दिया और एक बार चारों ओर दृष्टिपात किया।

मेरे घर के सामने ही एक पक्का कुआँ था। प्रतिदिन वहाँ प्रातःकाल स्त्रियों की बड़ी भीड़ रहती थी। उस दिन भी वहाँ स्त्रियों की संख्या कम न थी। मैंने देखा कि हमारे घर की दासी मालती भी गगरा लिये बैठी है।

इतने में कुछ स्त्रियाँ लकड़ियों का गट्ठा सिर पर रक्खे उधर से निकलीं। मालती ने उनमें से एक को पुकार कर कहा—"लकड़ी बेचोगी ?"

एक ने उत्तर दिया—"क्या दोगी ?"

मालती कहने लगी—"तू ही कह दे ना, क्या लेगी ?"

उस स्त्री ने कहा—"आठ आना।"

मालती ने कहा—"बस बहन, हो गया। यह तो लेन-देन की बात नहीं है।"

तब उस स्त्री ने कहा—"बहन छः आने से कम न लूँगी।" तुम्हें लेना हो तो ले लो, नहीं जाती हूँ।"

यह कहकर वह जाने का उपक्रम भी करने लगी।

मालती ने कहा—"मैं तो पाँच आने दूँगी।"

तब वह स्त्री जाने लगी। इतने में दूसरी लकड़ी वाली ने उससे कहा—"दे दे री, पाँच आने ठीक तो हैं।"

उस स्त्री ने उत्तर दिया—"नहीं बहन, मैं न दूँगी। छै आने से एक कौड़ी भी कम न लूँगी।"

तब तक मालती ने गगरा भर लिया था। कहने लगी—"अच्छा ला।"

वह स्त्री मालती के साथ आने लगी। उसकी संगिनी लकड़ी वाली दूसरी ओर चली गयी।

फिर मैंने चश्मा साफ करके स्टेट्समैन उठा लिया और पढ़ने लगा। थोड़ा ही पढ़ा था कि मालती आकर कहने लगी—"बाबू, लकड़ी वाली लकड़ी रख कर कहाँ चली गयी ? उसने पैसे भी नहीं लिये।"

मैंने कहा—"आती होगी। उसे क्या अपने पैसों की चिन्ता न होगी ?"

मालती चुप हो रही। तब तक धूप कुछ तेज हो गयी थी। मैंने उससे कहा—"मालती, कुरसी भीतर रख दे।"

मालती ने वैसा ही किया। मैं भीतर बैठ गया। दस बजते ही मैं स्कूल चला गया। दिन भर मैं काम में लगा रहा। छुट्टी होते ही मैं घर लौट आया। घर आकर मैंने प्रसन्नतासूचक शब्दों में कहा—

"ओहो पुरुषोत्तम बाबू ! इतने दिनों में ? मिनी कैसी है ?"

पुरुषोत्तम बाबू ने कहा 'वह भी तो आयी है।"

तब तो मैं पुरुषोत्तम बाबू को छोड़ कर भीतर चला गया। देखा तो मिनी कमला के साथ बैठी हुई है। मिनी ने प्रणाम किया। मैंने उसे अन्तःकरण से आशीर्वाद दिया। बड़ी देर तक हम लोग बैठे रहे। इधर-उधर की खूब गप्पें होती रहीं।

११ बजे हम लोग सोने गये।

दूसरे दिन मैं बाहर कुरसी डालकर बैठ गया। पुरुषोत्तम बाबू अभी तक सो रहे थे। मैंने स्टेट्समैन उठा लिया। थोड़ी देर बाद मैं फिर कुएँ की ओर देखने लगा। आज भी वहाँ स्त्रियों की वैसी ही भीड़ थी। आज भी मालती गगरी लिये बैठी थी। इतने में कल की ही लकड़ीवाली फिर उधर से निकल पड़ी।

मालती ने उसे पुकार कर कहा—"ओ लकड़ी वाली ! कल तूने पैसे नहीं लिये ?"

वह कहने लगी 'बहन, आज भी लकड़ी लायी हूँ। इन्हें भी मोल ले लो। दोनों का दाम साथ ही ले लूँगी।"

मालती ने कहा—"अच्छा।"

इतने में पुरुषोत्तम बाबू आ गये। मैं उनसे गप्पें मारने लगा। थोड़ी देर में भीतर से हल्ला हुआ। हम लोग घबरा कर भीतर दौड़े। देखा लकड़ी वाली को भोला ने पकड़ लिया है !

मालती आदि और चार-पाँच स्त्रियाँ इधर-उधर खड़ी थीं। मुझे देखकर सब चुप हो गयीं।

मैंने पूछा—"माजरा क्या है ?"

मालती कहने लगी—"बाबू मैं इस लकड़ीवाली के पैसे लाने के लिए भीतर गयी। लौटने पर देखती हूँ कि यह नहीं है। इतने में आपके कमरे से कुछ आवाज आयी। मैं चोर! चोर ! कह कर चिल्लाने लगी। जब भोला आया, तब यह आपके कमरे में पकड़ी गयी।"

भोला ने कहा—"बाबू, इसने अपने कपड़ों में कुछ छिपा लिया है।"

तब मैंने लकड़ीवाली से पूछा —"क्यों, क्या बात है ?"

लकड़ी वाली ने एक बस्ता निकाल कर कहा,—"बाबूजी, मैं इसे रखने के लिए आयी थी।"

मैंने बस्ता खोलकर देखा तो उसमें रामचरित मानस की एक कापी थी। उसके ऊपरी पृष्ठ पर मेरे हाथ का लिखा हुआ था—"गूँगी।"

मैं चौंक पड़ा !

वह मेरी गूँगी ही थी !

"गूँगी ?"

मैंने इतना कहा ही था कि गूँगी मेरे पैरों पर गिर पड़ी।

भ्रम

वंशीधर बड़े आलसी थे। उन्हें कविता करने की कुछ धुन भी थी। आलस और कविता की धुन—बस दरिद्रता के लिए और क्या चाहिए ? उनके पिता के पास न कुछ भूमि थी, न कोई बड़ा व्यापार। अतएव उन्हें पैतृक सम्पत्ति भी प्राप्त नहीं थी।

आनन्दसिंह उनके सहपाठी थे। उन्होंने बाल्यावस्था से ही उन्हें समझाना आरम्भ किया था और अब तक समझाते आते थे; पर फल कुछ भी न हुआ। उन्होंने समझ लिया कि ये समझाने से न सुधरेंगे। अतएव उन्होंने उस विषय में कुछ कहना-सुनना छोड़ दिया।

वंशीधर कविता की धुन में कुछ पढ़-लिख भी नहीं सके थे। कोई इज्जत की नौकरी उन्हें मिल न सकती थी। साधारण क्लर्क होना वे चाहते नहीं थे। क्लर्की उनसे हो भी न सकती थी। बाप जो कुछ जमा करके छोड़ गये थे उसी को खाते-पीते रहे। वह भी किफ़ायत से नहीं—कवि के किये किफ़ायत नहीं हो सकती।

इसका फल स्पष्ट ही था। वे बहुत जल्द तंग-हाल हो गये। अब वे आनन्दसिंह के पास अधिक आने-जाने लगे। कवि जिस शीघ्रता और सरलता से सहायता दे सकता है, उसी शीघ्रता और सरलता से साहयता पाने की आशा भी करता है। वे मन ही मन चाहने लगे कि आनन्दसिंह उन्हें आर्थिक सहायता दें—उनके लिए एक प्रेस खोल दें। उसमें उनकी कृतियाँ छपा करें, और उसी के पुरस्कार स्वरूप उन्हें कुछ द्रव्य मिल जाया करे। आनन्दसिंह का भी लाभ होगा और उनका भी। प्रेस से उन्हें खासी आमदनी हो जाया करेगी।

कवि संकोची भी बहुत होता है। वे आनन्दसिंह के यहाँ साल भर तक बराबर जाते रहे; पर अपने मन का अभिप्राय उनसे न कह सके। आनन्दसिंह समझ तो गये कि वे कुछ सहायता चाहते हैं, पर स्वयम् कुछ न बोले।

यह संकोच कब तक रहता। जब भूखों मरने की नौबत आ गयी तब वह भी टूट गया। अन्त में एक दिन वंशीधर ने आनन्दसिंह के यहाँ जाकर उन पर अपने मन की बात प्रकट की।

वंशीधर भाई, आनन्दसिंह, मैं आपसे एक गम्भीर विषय पर बात करना चाहता हूँ।

आनन्दसिंह—कहिये।

वंशीधर—यदि आप एक काम करें तो आपका भी लाभ हो और हमारा भी।

आनन्दसिंह—कौन सा काम?

वंशीधर—आप एक प्रेस खोल दीजिये।

आनन्दसिंह—प्रेस खोल कर क्या होगा?

वंशीधर—उससे आपको आर्थिक लाभ होगा।

आनन्दसिंह—कैसे होगा? प्रेस तो बहुत हैं।

वंशीधर—यह आप क्या कहते है? इतने बहुत नहीं हैं कि लाभ न हो सके।

आनन्दसिंह—मुझे कदाचित् लाभ हो भी जाय, पर आपको क्या प्राप्त होगा ?

वंशीधर—मैं किताबें लिखूँगा, आप छापियेगा और बेचियेगा। मुझे भी कुछ दे दीजियेगा।

आनन्दसिंह—कौन जानता है कि आपकी किताबें बिकेंगी ही ? न बिकीं तो ?

वंशीधर—सब की किताबें बिकती हैं, मेरी ही न बिकेंगी ?

आनन्दसिंह—सब को लोग जानते हैं। आपको कौन जानता है ?

वंशीधर—जिनको लोग जानते हैं, मैं उनसे अच्छा लिखता हूँ।

आनन्दसिंह—हो सकता है कि आप संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हों, पर लोग वैसा आपको न मानें और आपकी किताबें न बिकें तो मैं क्या करूँगा ?

वंशीधर—आप टालना चाहते हैं !

आनन्दसिंह—शायद आप ठीक ही सोचते हैं।

वंशीधर—बस, देख ली मित्रता ! बड़ी सहानुभूति प्रकट किया करते थे ! जब सहायता करने का समय आया तब मुँह मोड़ लिया !

आनन्दसिंह—जैसा समझिये। मुझे काम से जाना है। अधिक समय नहीं है।

वंशीधर आनन्दसिंह के यहाँ से बहुत उदास होकर लौटे। उन्हें आनन्दसिंह से ऐसी आशा नहीं थी। आनन्दसिंह का स्वभाव अच्छा था। वे दीनों की सहायता किया करते थे। सैकड़ों दुखियों का दुःख उनके द्वारा दूर होता था। उनके लिए अपने मित्र को सहायता देनी कोई बड़ी बात नहीं थी ; पर उस दिन उन्हें न जाने क्या होगया जो वे ऐसा व्यवहार कर बैठे।

वंशीधर उनके यहाँ बार-बार गये। कवि आत्म-सम्मान का ध्यान आवश्यकता से अधिक रखते हैं ; पर वंशीधर को दुतकारे जाने पर

भी आनन्दसिंह के घर जाने में अब लज्जा नहीं आती थी। उदर की ज्वाला आत्म-सम्मान को भी जला डालती है !

जितना ही अधिक वंशीधर आनन्दसिंह के यहाँ जाते थे उतने ही वे उनसे विरक्त होते जाते थे। यहाँ तक कि वे अब उनको जलपान के लिए भी नहीं पूछते थे और न दो-चार मिनट से अधिक समय तक उनसे बातचीत करते थे।

आखिर वंशीधर से और अधिक न सहा गया। एक दिन उन्होंने पैर से दबे हुए सर्प की तरह फन उठाया, आनन्दसिंह को बहुत फटकार बतायी और उनके घर को सदा के लिए छोड़ कर चले आये।

आघात मानसिक परिवर्तन पैदा कर देते हैं। वंशीधर घर आकर बहुत झुँझलाये। उन्होंने एक गरीब पड़ोसी से कुछ रुपये उधार लिये और एक पान की दूकान कर ली। वे पान बेचते और पान खाने के लिए दूकान पर इकट्ठा होने वाले आदमियों को अपनी कविता सुनाते। कविता सुनने के लोभ से बहुत लोग उन की दूकान पर पान खाने आने लगे।

इसी प्रकार कुछ दिन बीत गये। उनके पास कुछ रुपये जमा हो गये। उनसे उन्होंने तम्बाकू की दूकान की। तम्बाकू की दूकान से उन्हें अधिक लाभ होने लगा।

किसी के दिन एक से नहीं रहते। वंशीधर कुछ दिनों में मजे में हो गये। धीरे-धीरे उनकी पूँजी बढ़ी और उन्होंने प्रेस खरीद लिया। वे अब किताबें लिखने लगे। उनका पुराना स्वप्न अब सत्य हो गया। आज उन्हें ज्ञात हुआ कि उन्होंने आनन्दसिंह से प्रेस खोलने की प्रार्थना करके अपने को कितना नीचे गिरा दिया था।

वंशीधर का कारोबार और भी बढ़ने लगा। वे अपनी सफलता पर फूले न समाते थे।

इसी बीच में एक दिन उनसे और आनन्दसिंह से अचानक भेंट हो गयी। आनन्दसिंह ने उन्हें देखकर मुस्करा दिया और हाथ मिलाने के लिए उनकी ओर अपना हाथ बढ़ाया। पर वंशीधर ने अपना हाथ

आगे नहीं किया। उनके मुख पर घृणा के भाव छा गये। उन्होंने कह ही डाला—"तुम हाथ मिलाने योग्य मनुष्य नहीं हो।"

किसी को अपनी सफलता पर अभिमान नहीं करना चाहिए। आज जो बात है, सम्भव है वह कल न रहे। परन्तु वंशीधर इस बात को भूल गये। वे उन्मत्त से हो गये थे। वे जिससे बातें करते, अपनी प्रशंसा का पुल बाँध देते। धनी की हाँ में हाँ सब कोई मिलाते हैं। उनकी बात का कोई विरोध नहीं करता था।

मालूम होता है उनके अभिमान को दैव नहीं सह सका। एक दिन अचानक उनके कार्यालय में भीषण आग लग गयी। उनका सब कुछ जल कर स्वाहा होगया। आग लगने का समाचार आनन्दसिंह को मिला था। वे आग बुझाने आये; पर आग किसी के बुझाये बुझ न सकी। प्रचंड वायु ने उसकी सहायता की थी।

जिस समय आनन्दसिंह घर लौट रहे थे, उस समय वंशीधर बहुत उदास थे। उनका सारा घमंड चूर-सा हो गया था। उनको देख कर आनन्दसिंह जाते-जाते मुस्करा उठे।

यह मुस्कराहट वंशीधर के हृदय में तीर बन कर लगी। वे इस समय यही सोच रहे थे—'क्या आनन्दसिंह इतना नीच हो गया है? मेरा सर्वस्व स्वाहा देख कर वह मुस्करा उठा।'

इसी समय आनन्दसिंह फिर आ गये। उन्होंने कहा—"वंशीधर क्या सोच रहे हो?"

वंशीधर—यह कि तुम्हारा कितना घोर अधःपतन हुआ है!

था। यह बताओ कि

होगी क्या?

कैसी बातें करते हैं?

आप फिर से प्रेस

वंशीधर कुछ देर तक सोचते रहे, फिर उठ कर आनन्दसिंह के गले से लिपट गये। उन्होंने सजल नेत्र होकर कहा—

"भैया क्षमा करना, मुझे भ्रम हो गया था। अब आपकी हितैषिता समझ में आयी है।"

आनन्दसिंह—भाई मुझे ताना तो नहीं दे रहे हो।

वंशीधर—सच बताओ, यही बात है न कि पहले मैं अकर्मण्य था; पर अब दैवी घटना से मेरा सर्वनाश हुआ है।

आनन्दसिंह—भाई मेरा तो यही भाव था। यदि इसमें कोई भूल हो तो क्षमा करना।

वंशीधर—नहीं भाई, अपने नितान्त कुत्सित विचारों के लिए मैं बहुत लज्जित हूँ। मुझे हृदय से क्षमा करो।

आनन्दसिंह—यदि क्षमा चाहते हो तो यह चैक ग्रहण करो।

वंशीधर—भाई, तब तो आप ने उचित किया था, पर अब भूल कर रहे हैं। मैं फिर पान की दुकान करूँगा।

आनन्दसिंह ने बहुत अनुरोध किया, पर वंशीधर ने चैक लौटा ही दिया।

दायित्व

उसकी माँ थी—उसे दुःख ही किस बात का था ? अपने जीवन के तीस वर्ष इसी तरह निश्चिन्त उसने काट दिये थे। कचहरी में बाबू था, और आज पाँच वर्षों से उतने ही रुपये मासिक कमा रहा था जितनी उसकी उमर थी।

तब भी उसका खर्च बढ़ा-चढ़ा रहता था। मित्रों को खिलाने-पिलाने में और स्वयम् के चाय-पानी में ही अपने वेतन का तीन-चौथाई तो वह यों ही खर्च कर देता। जो कुछ बच रहता, वह होता ही कितना था जिससे इतने बड़े घर का खर्च चलता ?

आखिर पाँच प्राणियों का परिवार था—वह था, उसकी मा थी, एक छोटा भाई था, एक बहन थी और एक वह भी थी जिसे वह जबरदस्ती का बोझा समझता था—उसकी पत्नी।

सचमुच मनोहर विचित्र था ? अब वह निरा बच्चा तो था नहीं, तब भी बिना सोचे-समझे खर्च करता था। जब पिता जीवित थे, तब दूसरी बात थी। मजे से साढ़े तीन सौ माहवार घर में आते थे; मनमाना खर्च होता था।

मनोहर का कालेज में ही पचास का औसत आता। वह तो उसकी मा ही, किसी तरह, कुछ बचा सकी, नहीं तो पिता तो कमाई को हाथ का मैल ही समझते थे।

दुर्भाग्य का कोई क्या कर सकता है ? बेचारे जीवित ही नहीं रहे। मनोहर को कालेज के सेकण्ड इयर से ही पढ़ाई समाप्त करके कचहरी

में नौकरी स्वीकार करनी पड़ी। आखिर पिता के पश्चात् इतनी बड़ी जवाबदारी उसके मत्थे पड़ी थी। किन्तु जिस तरह अपनी जवाबदारी वह निभा रहा था, उसे वही जानता है।

मगर उसकी मा थी न! संसार की यातनाओं तथा भयंकरता से ऊबकर जब वह मा की गोद में सिर रखकर लेट जाता तो उसे अजीब शान्ति मिलती। उसे कुछ ऐसा भासित होता कि संसार में भीषण से भीषण अपराध भी यदि वह कर ले, तो उसे चिन्ता नहीं। उसके लिए एक ऐसा स्थान वर्तमान है, जहाँ अनन्त क्षमा, चिर-स्नेह और पूर्ण शान्ति है!

वह स्थान था उसकी मा की गोद! कई बार उसकी मा ने एक-एक बार इकट्ठे सौ-सौ रुपये दिये हैं, जिनसे वह अपना ऋण चुका सका है।

उसका एक मित्र था, नरोत्तम। नरोत्तम मनोहर से स्नेह रखता था। पवित्र हृदय से उसका शुभाकांक्षी था; किन्तु उससे असन्तुष्ट था। वह नहीं चाहता था कि मनोहर इतना व्यर्थ व्यय करे। उसकी तीव्र इच्छा थी कि मनोहर अपना कर्तव्य समझे।

वह बालक नहीं रहा—पूरी गृहस्थी का बोझ उसी के सिर पर है भाई को पढ़ाना, बहन का ब्याह करना। आजकल का समय ऐसा है कि बात-बात पर रुपयों की आवश्यकता होती है। और संसार में रुपया कोई किसी को नहीं देता। बातों के धनी अनेक मिलते हैं।

पर मनोहर सचमुच निश्चिन्त था। उसकी मा थी न!

एक दिन की बात है। मनोहर ने सबको चाचा के यहाँ भेज दिया था और आप अकेला घर में रह गया। अकेला क्यों? कहीं से उसके तीन मित्र आये थे, वे भी उसी के घर ठहरे थे। तीनों बेकार थे। पर इस बीसवीं शताब्दी में चाहे कोई बेकार ही क्यों न हो, शान शौकत में कमी नहीं पड़ती। खर्च किसी के मत्थे रहे, चलता तो है!

सन्ध्या का समय था। मनोहर के मेहमान कहीं घूमने गये थे। वह अकेला छत पर बैठा था। नरोत्तम आ पहुँचा। नरोत्तम जब कभी आता है तो आध घंटे से कम नहीं बैठता। जब उसके पास काम से इतना अवकाश नहीं रहता तो वह मनोहर के यहाँ आता भी नहीं। उसका कहना है, 'ऐसा भी क्या आना कि अभी आये, अभी गये--घड़ी भर बैठ कर कुछ दुःख सुख की बात ही न की।'

नरोत्तम को देखकर मनोहर बड़ा हर्षित हुआ। कम से कम आध घंटा बीत ही जायगा, इस विचार ने उसे प्रसन्न कर दिया।

"आओ, भाई! बैठो। तुम तो आजकल ईद के चाँद हो रहे हो। दीखते ही नहीं"—मनोहर ने कुरसी सरकाते हुए कहा!

"क्या करूँ? आजकल फुरसत ही नहीं मिलती।"

नरोत्तम बैठ गया। बोला—"मा वग़ैरह को कब तक बुला रहे हो?"

"बुलाऊँगा। अभी तो पैसे नहीं हैं।"

"और तुम्हारे यहाँ कौन-कौन आये हैं?"

'मित्र ही हैं।"

"क्या करते हैं?"

"कुछ नहीं।"

"तो इनका खर्चा कैसे चलता है?"

"चल ही जाता है किसी तरह।"

"किसी तरह का क्या मतलब?"

"भगवान कहीं से प्रबन्ध कर ही देता है।"

"यहाँ कितने दिनों से हैं?"

"बीस दिन से।"

"और कितने दिन रहेंगे?"

"पता नहीं।"

नरोत्तम की त्यौरी चढ़ गयी—"तुम्हें लाज नहीं आती मनोहर! क्या दुर्दशा कर रक्खी है तुमने घर की! यह घर है या सराय, या

होटल ? तुम्हारे सिर पर कितनी बड़ी जिम्मेदारी है ? तुम क्यों नहीं समझते ? बाबू जी थे तो तुम्हारा घर ऐसा ही था ?"

"तब की बात और थी नरोत्तम !"

"फिर भी तुम पागलों-जैसी बातें कर रहे हो। तुम सोचते-समझते क्यों नहीं ?"

"सोचता तो हूँ।"

"क्या सोचते हो ? पत्थर !"

"पत्थर नहीं नरोत्तम ! मैं पैसे का भक्त नहीं हूँ—मनुष्य का भक्त हूँ। तुम्हीं कहो, जब ये मूर्तियाँ मुझे अपना समझ कर आ खड़ी हो जाती हैं, तब कैसे इन्हें न खिलाऊँ ?"

"यह तो ठीक है। पर पहले उनको खिलाओ जिनको तुम पर जिम्मेदारी है। सतीश तीन साल बाद कालेज में पढ़ने जायेगा, प्रमिला भी तीन-चार साल में ब्याहने योग्य हो जायगी। तुम इस तरह अन्धाधुन्ध खर्च करते जा रहे हो। मा के पास का भी पैसा तुमने सब खर्च कर दिया। सोचो भला, कैसे क्या करोगे ?"

"सब निपट जायगा। सभी अपनी-अपनी तक़दीर लेकर पैदा होते हैं।"

"पर तुम इन लफंगों को खिलाना-पिलाना न छोड़ोगे न ?"

"जब तक दम है, तब तक तो नहीं छूट सकता—बाद की देखी जायेगी।"

"अच्छा तो करो, जैसा जी में आये।"

मनोहर बहुत रोकता रहा, पर नरोत्तम चला ही गया।

नरोत्तम के जाने के कुछ देर बाद ही मनोहर के मित्र पहुँचे। उन्होंने कलकत्ता फिल्म कम्पनी में नौकरी ढूँढ़ने के लिए जाने का निश्चय कर लिया था। मनोहर से बोले—"भाई, सत्तर रुपये हमें चाहिए। दे दो। पन्द्रह दिन के बाद यदि तुम्हें वापिस न किये तो पाँच गुने अधिक ले लेना।"

"पर भाई, तुम तो जानते हो, आजकल पैसों की कितनी तंगी है !"

कहीं से प्रबन्ध कर दो न ! तुम्हारा तो यहाँ काफी सम्मान है। कहीं भी मिल जायेंगे।"

"अच्छा देखो !"

उन दिनों मनोहर नाजिर था। 'और कहाँ माँगता फिरूँगा,' ऐसा सोच कर उसने सरकारी रुपये देकर मित्रों को विदा किया।

अपने मित्रों को इस कष्ट के अवसर पर सहायता पहुँचाकर मनोहर ने बहुत सुख अनुभव किया।

कोई पन्द्रह दिन हो गये, पर मनोहर के मित्रों ने रुपये नहीं भेजे। पत्र भी नहीं भेजा। लापता हो गये।

इसी बीच उसकी मा ने भी जीवन-लीला समाप्त कर दी। मा की अन्तिम क्रिया करने में तथा भाई-बहनों को वापस लाने में मनोहर पर दो सौ रुपये का ऋण हो गया। शहर में, इधर-उधर दूकानदारों के ऋण थे, सो अलग।

आडीटर को सत्तर रुपयों की गड़बड़ी मिली, और मनोहर नौकरी से निकाल दिया गया।

नरोत्तम ने सुना तो ठंडी साँस लेकर कहा—"यह तो मैं जानता ही था। चलो, अब चेत जायगा।"

मनोहर बहुत विचलित था। उसके सामने अन्धकार छाया था। भाई की पढ़ाई उसी के कारण बन्द हो जायगी और बहन के ब्याह के तिलक के लिए दस दिन बाद ही उसे तो पाँच सौ रुपये भेजने थे !

उसे प्राणान्तक कष्ट का अनुभव हुआ। संसार में कोई भी उसके साथ पूरी सहानुभूति बतानेवाला नहीं था। इस समय यदि उसकी मा जीवित होती तो उसकी गोद में सम्भवतः कुछ क्षण के लिए वह अपना कष्ट भूल जाता; किन्तु वह तो पहले ही उसे छोड़ चुकी थी !

दिल्ली वाला

उस दिन घोड़े और गाय की दवा करते-करते जब मैं थक चुका तब किसी ने पुकारा—'डाक्टर साहब।' मैं झुँझला पड़ा। फिर मैं भी तो आदमी ही था। न एक क्षण विश्राम, न यहाँ-वहाँ की दो-दो बातें। सवेरे से लेकर शाम तक बस वही मूक प्राणियों के साथ जूझना, गधे और घोड़ों को देखते रहना।

भाषायुक्त प्राणियों के डाक्टरों और मुझमें पृथ्वी आकाश का अन्तर पड़ जाता है। उन्हें तो रोग-निर्णय के लिए भी अनेक सुयोग और सहायता रुग्ण ही से मिल जाया करती हैं—और यहाँ मूकों की सभा में विधाता सी जानकारी की जरूरत पड़ती है। फिर भी दुनिया सम्मान का उच्च आसन देते समय पक्षपात कर बैठती है।

क्यों? बात सहल है। वे चिकित्सक हैं उन्हीं पक्षपात करने वालों के लिए। तो पशु-चिकित्सक को कौन पूछे? पशुओं के आत्मा है तो रहा आये। हैं तो वही निरीह, मूक, असभ्य प्राणी! हमारी तरह क्या वे सुख दुःख को मुँह खोलकर कह सकते हैं? या सूट-बूट पहन कर सिगरेट फूँकते सिनेमा में जाकर सुन्दरियों के साथ बैठ सकते हैं? कम से कम लेक्चर भी तो वे नहीं दे सकते!

सभ्यता तो असभ्यता को नीच, हेच दृष्टि से देखती ही चली आ रही है। इसमें चिढ़ने की, निन्दा करने की बात कौन सी है? नहीं नहीं! मैं न किसी की निन्दा करता हूँ और न अपनी बड़ाई करता

हूँ। केवल कहना चाहता हूँ—'मैं पशु-चिकित्सक हूँ, और लोग मुझे डाक्टर न कह कर दिल्लीवाला कहते हैं।'

उनके इस कहने पर मुझे कभी-कभी हँसी आ जाती है। अरे, भाई, मैं क्या, मेरे बाप-दादा भी कभी दिल्ली में रहे नहीं। हाँ मैं दो महीने अवश्य रहा और वहीं से बदल कर यहाँ के चिकित्सालय में आया भी था।

उस दिन जब डाक्टर साहब कहकर किसी ने पुकारा तब विरक्ति के साथ-साथ विस्मित भी कम न हुआ। फिर भी मन में कुछ सन्तोष सा आ गया—"चलो आज तो डाक्टर कहकर सम्बोधन करने वाला कोई है। 'दिल्लीवाला' 'दिल्लीवाला' सुनते-सुनते सचमुच मैं तंग आ गया था।"

मुँह फेरते ही दुनिया भर को प्रसन्नता, सरलता मुझे मिल गयी—उसी एक पल में। उन मूक, बधिरों की सभा में मुझे सरस्वती के हाथ की मुखरित वीणा-सी मिल गयी। सुदूर पंजाब के एक शान्त ग्राम का चित्र मेरी आँखों के सामने परिस्फुट हो उठा—'मिट्टी के आँगन में कई नग्न, अर्द्धनग्न बालक-बालिका बिल्ली के पीछे दौड़ते दिखायी पड़े।' भूल गया कि मैं पशुचिकित्सक हूँ।

आग्रह, उद्वेग से मैंने पूछा—"क्या है बाई, तुम रोती क्यों हो?"

कुन्द-कली-सी, स्वर्ग-सुषमा-सी, एक छोटी बालिका थी। लम्बे, पतले भौंहों के नीचे मोहक और बड़े नेत्रों में जल छलछला रहा था। पुष्प-स्तबक-सी केशराशि गोरे मुँह को घेरे पीठ पर झूम रही थी। पतली बाँहों में सोने की बारीक चूड़ियाँ पड़ी थीं। पैर में जूते, मोजे और जाली का फराक। सिर के उस गुलाबी रिबन से बालिका देवकन्या सी लग रही थी। साथ में काला, बूढ़ा एक व्यक्ति था। शायद वह नौकर हो।

"किटी रोती है, उसे अच्छा कर दो"—बालिका सिसकने लगी।

मेरा हृदय स्नेह से उमड़ आया। कैसा सरल और निर्भरशील आवेदन था! मानो मैं स्वयम् विधाता ही ठहरा! जो चाहूँ सो करूँ।

वैसी निर्भर-शीलता, विश्वास पाने का मेरे लिए वह प्रथम अवसर था। किन्तु मैं हैरान था कि किटी किस जीव का नाम हो सकता है ?

मैंने उस ओर देखा। पहेली का समाधान उसी पल में हो गया। एक मोटी, सुन्दर, सफेद बिल्ली बालिका गोद में दबाये थी।

"घबराओ नहीं ममता बाई। अब हीं तुहार बिलइया नीक हुइ जाई"—नौकर बोला।

बिल्ली को लेकर मैंने साहस देते हुए कहा—"कौन-सी बड़ी बात है। आप बैठिये ममता बाई। मैं अभी इसे चंगा किये देता हूँ।"

मैंने ममता को कुर्सी पर बैठाया और मन ही मन विचारने लगा कि माता-पिता ने बालिका का नाम सार्थक रक्खा है। मानो साक्षात् ममता ही सामने खड़ी थी। पशु के लिए ऐसी दया, इतनी ममता, मैंने किसी में देखी नहीं। कुत्तों को लेकर कितने ही साहब, मेमें आया करती हैं, किन्तु उन स्वरों में आग्रह, अधिकार, आज्ञा के सिवा और कुछ मुझे उपलब्ध कभी न हुआ।

कहने को तो मैं कह गया कि 'अभी अच्छा किये देता हूँ।' किन्तु सच पूछिये तो मैं जरा संकट में था। पता नहीं कि उसे कौन सा रोग हो गया था।

फाटक पर मोटर भरभराने लगी। आरोही पर दृष्टि पड़ते ही मैं सहम उठा। शहर के एक प्रसिद्ध धनवान् खड़े थे। ममता दौड़ कर उनसे लिपट गयी—"मामू डाक्टर कहते हैं, किटी अभी अच्छी हो जायगी।"

आगन्तुक महाशय मुस्कराये—"हाँ हाँ, होगी नहीं तो क्या! डाक्टर साहब! जैसे बने बिल्ली को बचाइये। कल शाम से ममता रानी का खाना-पीना बन्द है। देखिये न, जब तक मैं चलूँ, तब तक रामदीन के साथ वह खुद चल पड़ी।"

जल्दी से मैंने बिल्ली को इंजेक्शन लगा दिया और अंडी का तेल भी पिलाया।

कृतज्ञ दृष्टि से मेरी ओर देखकर ममता अपने मामू के साथ कार में बैठ गयी। निर्निमेष दृष्टि से मैं उसे देखता रहा। न जाने उस दिन से मुझे क्या हो गया। हर बात से मैं अनमना रहने लगा।

वह अस्पताल बस उसी दिन से मेरी दृष्टि में सौन्दर्य की नवीनता से भर उठा। डेरे पर प्रातःकाल उठ कर मैं नौकर को तंग करने लगता। चाय में देरी होने से उस पर झुँझलाता। वह केवल विस्मित भाव से मुझे देख लेता, कुछ कहता नहीं। कौन जाने वह क्या सोचता, उसके मनोभाव को समझने के लिए उतना समय और धीरज ही कहाँ था?

मुझे लगता अस्पताल में वह देवबाला आकर कहीं लौट न जाय। उस मुखमंडल को देखते ही मैं अपने आप को भूल जाता। उसके सुन्दर और सरल प्रश्नों का उत्तर मैं घंटों देता रहता। घोड़े, गाय, बिल्ली, कुत्ते के न जाने कितने रोगों के नाम मैं उसे बतलाता और जब उस सुन्दर मुख के मनोहर नेत्र विस्मय से विस्फारित हो उठते, तब मैं अपने को न सँभाल पाता। इच्छा, प्रबल इच्छा होती कि उसे एक बार बेटी कह कर पुकारूँ। केवल एक बार उस मस्तक को हृदय से लगा लूँ। किन्तु पल भर में मुझे सहमना पड़ता! मैं दरिद्र उस राजकन्या को बेटी कह कर पुकारने का अधिकारी कैसे हो सकता हूँ?

केवल बालिका ही नहीं, रामदीन भी गम्भीर मुद्रा बनाये एक अचम्भे से हम दोनों की बातें सुनता रहता। उस भृत्य के प्रति भी मेरी ममता जग पड़ी थी।

धीरे-धीरे बिल्ली अच्छी हो गयी। वह बालिका अम्लान हँसी-सी, पारिजात बन की देवकन्या सी, गुलाब की गुच्छ सी—वह बालिका, ममता रानी, अब नहीं आती। सवेरे से शाम तक आकुल प्रतीक्षा में मेरा बूढ़ा मन गेट पर अटका रहता, किन्तु सब कुछ व्यर्थ होकर बूढ़ी निशानारी निद्रकुसुम का हार गले में डाले गिरि-गुहा से निकल आती और निराश-व्यथित-श्वास हृदय में दबा कर मैं बूढ़ा घर लौट जाता।

खुट ! खुट ! खुट !........मिऊँ ! मिऊँ !

सन्ध्या होने ही को थी। मैं श्वास रोककर प्रतीक्षा करने लगा। उस जूते की आवाज को मैं भलीभाँति पहचानता हूँ और किटी की उस मिऊँ मिऊँ पुकार को भी।

उस आवाज को सुने कितने ही वर्ष हो गये। पर मैं जोर देकर कह सकता हूँ—आज यदि द्वार पर फिर वह आवाज सुनूँ तो अवश्य तुरन्त पहचान लूँगा। हजारों खुटखुटाहट में मैं ममता के उन छोटे जूतों की आवाज निश्चय पहचान लूँगा।

कम्पाउन्डर आदि अपने बही-खाते को लेकर मेरा मुँह ताकते ही रह गये! और मैं? मालूम नहीं उस समय स्वप्न-लोक में था या वास्तव में। बिल्ली एक चाँदी की जंजीर में बँधी थी। हाँ वही चन्द्रलोक की बालिका मेरे सामने थी। सिर के बाल वैसे ही जूही के गुच्छ के समान झूम रहे थे! बायीं ओर एक सफेद, चौड़ा रिबन फूल की तरह बँधा था। जाली नहीं, सादा रेशम का फराक था और रामदीन दो बड़ी परात लिये खड़ा था!

बालिका खिलखिला कर हँस पड़ी—"बैठे-बैठे तुम सोते हो दिल्ली-वाले? मुझे तो बिस्तर पर भी नींद नहीं आती। मा जब आँखें बन्द कर लेती हैं, मैं तब किटी को लेकर भाग जाती हूँ।"

"कहाँ रानी?"—परम कौतुक से मैंने पूछा।

"तुम नहीं जानते?"—आश्चर्य से उसने कहा—"पीछे। वहीं तो रामदीन रहता है और आया भी।"

"अरे हाँ हाँ! अब मुझे स्मरण आया। तो वहीं तुम भाग जाती हो, बाई?"

"हाँ, मा उठ कर जब मुझे बुलाती हैं, तब मैं रामदीन की रजाई में घुस जाती हूँ।"

वह हँसने लगी। रामदीन और हम सब भी हँस पड़े। अब मुझे उन परातों की बात याद आयी। रामदीन उन्हें

ज़मीन पर रख कर कहने लगा—"ले, बिलइया के बदकेर तुहार मिठाई।"

मैंने किटी को गोद में उठा लिया—"यह ख़ुशी की मिठाइयाँ हैं बाई?"

"तुम्हारे लिए लायी हूँ। किटी ने भी खायी है।"

"और तुमने?"

"मैं मिठाई नहीं खाती।"

आश्चर्य से मैंने पूछा—"ऐसा क्यों ममता बाई?"

घर की बनी, बड़ी, सुन्दर, सुस्वाद बंगाली मिठाइयाँ थीं। अस्पताल में सब को बाँटी—उस दिन देर तक वह बातें करती रही।

अस्पताल शायद उस दिन ज़रा जल्दी गया था। कुछ बातें मेरे कानों तक भी पहुँचो—"ममता बाई की बिल्ली फिर बीमार नहीं पड़ती?"

"मैं तो ईश्वर से सदा प्रार्थना करता रहता हूँ कि वह बिल्ली बीमार पड़ जाय।"

"कैसी अच्छी मिठाइयाँ थीं और बच्ची कैसी गुड़िया सी है।"

"खुदुर-खुदुर चली आया करे!"—कम्पाउंडर और मुंशी दोनों बातें कर रहे थे।

एक गहरा श्वास मेरे हृदय को चीरता हुआ निकल पड़ा। मैं चुपके से चल पड़ा।......हँसी की आवाज़ से दृष्टि उधर जा पड़ी। बँगले के कम्पाउंड में ममता तितलियों-सी धूम मचा रही थी। आगे-आगे किटी भागी जा रही थी। और ममता तालियाँ बजाती उसके पीछे दौड़ रही थी। हवा में बाल झूमते जाते थे।

न जाने कब तक मैं वहाँ खड़ा रहता किन्तु मोटर के हार्न से मुझे हटना पड़ा!

कितने ही दिन बीत गये। वर्षा आरम्भ हो गयी थी। वह छोटी बालिका दिखायी नहीं देती। मैं निर्जीव-सा अपनी ड्यूटी करता और सन्ध्या समय भाराक्रान्त चित्त से डेरे पर लौटता।

मुझे कपड़े खरीदने थे। पुराने छाते को लेकर भीड़ चीरता मैं दूकान तक पहुँचा। परन्तु दूकान में घुसकर चुपचाप खड़ा रह गया! गद्दी पर वह गुड़िया बैठी थी—सम्राज्ञी की तरह, और दूकानदार उससे न जाने कितनी बातें कर रहा था। सामने राशिकृत कपड़े पड़े थे। एक ओर रामदीन मुँह बाये बैठा सिर हिला रहा था—जैसा कि वह प्रायः किया करता था।

एक बड़ा तोता बाई के कन्धे पर बैठा था। उस तोते की कीर्ति रानी ममता दूकानदार से कह रही थी। दूकानदार सुनता जाता था और कपड़े भी उसे दिखलाता जाता था। उस बालिका की बुद्धिमत्ता, उसकी पसन्द को देख-सुन कर मैं अवाक् हो रहा। साड़ियाँ, चादरें पसन्द कर ली गयीं। पोत के बेग से उसने नोट निकाल कर दे दिये। चलते समय मुझे देखकर ममता रानी बड़ी प्रसन्न हुई। वह बोली—"दिल्लीवाले, किटी अच्छी है।"

"तुम तो अब आती ही नहीं ममता बाई"—मैंने अभिमान से कहा।

रामदीन ने उत्तर दिया—'आयें कैसे? चार बजे तो स्कूल से लौटती हैं। फिर घर में बिलइया है, सुग्गा है, गाय का बछवा है। उनसे खेल-कूद में देर लग जावत है।'

मुझे दुखी होते देख कर वह जल्दी से बोली—"मैं आऊँगी डक्टर साहब।"

दूकान के बाहर निकलते ही दूकानदारों ने उस गुड़िया को घेर लिया। कोई लाजेञ्जेज लेकर दौड़ा, कोई चाकलेट। एक पुकारने लगा—"अरे रामदीन भैया, बाई को जरा मेरी दूकान पर लाना।"

मैं चुपचाप खड़ा उस दृश्य को देखता रहा। किन्तु वह शान्ति, वह सुख, मेरे अदृष्ट में अधिक दिन न रह पाया। मैं दूसरे शहर में बदल गया। आँसू बहाते हुए उस देव-कन्या को छोड़कर जाना ही पड़ा।

बीच में कितने ही वर्ष बीत गये। एक शहर से मैं दूसरे में गया। छुट्टी लेकर देश भी हो आया; किन्तु फिर भी उस छोटी बालिका को भूला नहीं। काम-काज में अपने को लगाये रहता—पृथ्वी के कोलाहल में पिस कर। उसकी छाया म्लान नहीं और भी उज्जवल हो उठती। मैं विस्मय से सोचता—'उस डेढ़ हाथ की दुबली, पतली, गोरी बालिका में ऐसी कौन-सी शक्ति, ऐसा कौनसा इन्द्रजाल है, जिसने एक दरिद्र को वर्षों बाद भी आक्रान्त सा कर रक्खा है? उसकी स्मृति म्लान होती ही नहीं।'

इन वर्षों मेरे सिर पर दुःख के पहाड़-से टूट पड़े। मुझ बूढ़े को जन्म भर रोने के लिए छोड़कर जवान लड़का चल बसा। उधर लड़की विधवा होकर घर लौट आयी। पेन्शन के लिए मैं आवेदन कर चुका था। काम-काज में शिथिलता आ गयी। स्वभाव मेरा बिलकुल ही चिड़चिड़ा हो गया था।

डेरे से निकलते ही एक मेम की लड़की झबरी, काली बिल्ली लिये मिल गयी। मैं वहीं अचल हो रहा। दस वर्ष पूर्व के वे दृश्य मेरी आँखों के सामने से चलचित्र समान सचल हो गये।

'ममता रानी! मेरी ममता! इससे अधिक सुन्दर है। इससे क्या दुनिया में वह एक ही सुन्दरी बालिका है!'

जी भर आया। विचार पक्का कर लिया कि देश लौटते समय जरूर उस शहर में जाऊँगा और उस बालिका को जी भरकर देख भी लूँगा। 'किटी अच्छी है न?' 'और वह सुआ?' 'ममता के कोमल कन्धे पर सुआ किस मजे से बैठा था!'

उस दिन नींद खुलते ही जज साहब के चपरासी से भेंट हो गयी। वह मोटर लिये खड़ा था—"जल्दी चलो दिल्लीवाला! मेम साहब कल से भूखी हैं।"

आश्चर्य से मैंने पूछा—"क्यों भाई।"

"बेबी बीमार है।"

"किसी डाक्टर को ले जाओ। मैं तो पशुचिकित्सक हूँ।"

"बेबी कोई बच्चा नहीं कुत्ता है।"

उसके साथ-साथ अपनी भूल पर मैं भी हँस पड़ा।

पाँच मिनट में मोटर बँगले के फाटक पर पहुँच गयी। बगीचे में माधवीकुंज के नीचे मिस्टर राय—यानी सेशन्स जज—पत्नी-सहित बैठे मिले।

"डाक्टर साहब मेरी बेबी को बचाओ।"

उस स्वर से मैं चौंक पड़ा! नहीं, नहीं मैं भूल नहीं कर सकता! उस स्वर को मैं पहचानता हूँ! मेरे कानों के पर्दों में उसकी झंकार सदा हुआ करती है! भला मैं अपनी ममता को भूल सकता हूँ?

कुत्ते को गोद में लिये जज साहब के पास एक अनुपम सुन्दरी बैठी थी। उसके नेत्रों में दस वर्ष पहले के वे ही आँसू थे!

मैंने देखा! आँखें फाड़-फाड़कर देखा! नहीं-नहीं, यह मेरी ममता नहीं है! मेरा अन्तर हाहाकार से भर उठा! इसी युवती ने उस गुड़िया को, मेरी छोटी ममता को चुरा लिया है! इसे नहीं, मैं अपनी वही छोटी ममता को देखना चाहता हूँ!

आर्तनाद कर मैं वहीं बैठ गया। हाथों से आँखें दबा लीं। मैं उसे देखता कैसे? चाहे वह अतुलनीय सुन्दरी हो, किन्तु जिसने मेरा सर्वस्व लूट लिया है, उसे मैं सहता कैसे?

मेरा सब कुछ लूटकर वह रूप की रानी तो बन बैठी है, किन्तु उस सुकुमार चित्र को वह मुझसे नहीं छीन सकती थी—वह तो मेरे हृदय के पर्दों में सुरक्षित है।

"दिल्लीवाला"—बड़े कोमल, मोहक स्वर से किसी ने पुकारा।

मुझे तन्द्रा-सी आ गयी। उस स्वर का झंकार मेरी नसों में होने लगा!

"हैं! मेरी ममता अब भी वैसी ही है!"—मैंने आँखें नहीं खोलीं! जी भर कर उस स्वर को तो सुन लूँ—

"दिल्लीवाला !"—वही मीठा स्वर ।

फिर इतना ही तो मेरे लिए बहुत है । जीवन की अबेला में क्या इतना ही कम लाभ है ?

—— ——

मनीबेग

"इसकी क्या कीमत है ?"

"बाबू, ये अठारह रुपया ग्यारह आना का होय । बिलकुल नया डिजाइन होय । आजकाल मराठा लोग इसको भौत पसन्द करता । इसी तरीका पन्द्रा सारी कल बिक गया होय ! सिरफ दो..."

"वह जरीदार साड़ी तो निकालिये ।"

"ये तो भौत अच्छा चीज है ! पारसी लोग ने इसको सिनेमाड्रेस बनाया है । बिलकुल पक्का जरी है । जलाने पर कम-से-कम दो सेर चाँदी निकलेगा । आप गहना भी..."

"इसी बार्डर की नीली साड़ी ?"

"हाँ, हाँ, ये लीजिये !"

ठीक उसी डिजाइन और रंग की साड़ी निशा ने तीन दिन पहले पसन्द की थी । उसे देखकर जब मेरी आँखों में उल्लास चमका, तब उस ऐंग्लो-इंडियन बिक्री करने वाली मेम की आँखों में विजय मुसकरा दी । हर दिन सवेरे दस बजे से रात को आठ बजे तक वह अपने मालिक की दूकान में काम करती थी । हँस-हँस कर चीजें बेचते रहने के कारण उसे यह अनुभव हो गया था कि लोग उसे देखने के बाद सामान

को देखते हैं और बिक्री की तेजी-मन्दी भी उसके मेक-अप के उतार-चढ़ाव के अनुरूप ही होता है।

किन्तु मुझे तो अभी अपनी निशा के सत्रहवें वर्ष की देहरी पर खड़े नवागत नवयौवन की अगवानी करने की जल्दी थी। बिक्री करने वाली की चितवन चाहे जैसी भी हो। मैंने साड़ी पसन्द कर ली और मनीबेग निकालने के लिए पाकेट में हाथ डाला।

पर पंचतन्त्र के हिरण्यक नामक चूहे की तरह वह मनीबेग सूट की एक पाकेट में जाकर फिर किस पाकेट से बाहर निकलेगा, इसका पता लगाना हाथों के लिए आसान बात नहीं थी। कोट की बाहरी और भीतरी जेबों के बाद वेस्टकोट की जेबों की बारी आयी और तदनन्तर कमीज की, पर फिर भी मनीबेग के झंकृतिपूर्ण स्पर्श का पता नहीं !

बिक्री करने वाली युवती कहती जा रही थी—"बाबू बाजार में कहीं ऐसा साड़ी नहीं मिलेगा। दाम भी भौत कम है। सिर्फ उन्नीस रुपये और...।"

मैं सोच रहा था,—'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'—शायद ऐसे ही मौके पर किसी ने कहा होगा। चारों ओर की तलाशी लेकर अन्त में डूबती हुई उम्मीद से मैंने पैन्ट को काफी थपथपाया और इतने में सिर से पसीना पोंछते हुए सामने शीशे पर ज्योंही नजर गयी त्योंही मेरे चेहरे का रंग उतर गया ! मैं भयंकर सन्नाटे में डूब गया ! उस युवती के दबे हुए ओठों के कोनों में छिप कर झाँकी हुई सन्देहपूर्ण व्यंग्य की मुसकान मानो मुझे छेद कर निकल गयी।

किसी अदम्य प्रेरणा ने मेरी सहायता की। मेरे मुँह से निकल पड़ा—"मैं जरा अपने एक दोस्त को बुला लाऊँ। अभी आता हूँ। आप इसे बाहर ही रखिये। अभी आया...समझीं !"—और झपट कर मैं दूकान से बाहर निकल गया।

जान पड़ा कि मैं तो हूँ कर्जदार और वह युवती है मेरा काबुली साहूकार। दूकान से निकल कर वह आध मील लम्बी सड़क, मैं कितनी

देर में पार कर पाया, मुझे पता नहीं। मोड़ पर पहुँचकर कुछ सोचने की ताक़त आयी। उस दिन तीस रुपयों के उन्हीं तीन नोटों पर मेरी दुनिया स्थिर थी। अच्छा होता, उन्हें मनीबेग में न रखा होता! गिरहकटों की नज़र हमेशा मनीबेग पर ही तो जाती है।

मनीबेग खो जाने से मालूम हुआ, संसार खो गया है। उन नोटों से खरीदी जाती निशा की साड़ी! उस साड़ी से मनायी जाती निशा की सत्रहवीं वर्षगाँठ! फिर हम दोनों धीरे-धीरे निशा के पिता के सामने अपने दिल की बात खोलते! और......और......

किन्तु मैं ही तो बेवकूफ था! अगर सावधानी से रहता, तो किसी शातिर गिरहकट की भी कैसे हिम्मत होती? और मान लो, अगर मनीबेग सड़क पर कहीं गिर भी गया हो! तो उसके लिए भी मैं ही अपराधी था। कहीं कोई बाहर की जेब में मनीबेग रखता है? अब तो कोई ऐसा दोस्त भी नहीं, जो सिर्फ उन्नीस रुपये उधार दे दे। दोस्तों के मुल्क में रुपये सदा उधार माँगे जाने के पन्द्रह मिनट पहले खत्म हो जाते हैं!

धीरे-धीरे आधा रास्ता भी खत्म हो गया। दूर से बिजली की कतारों में सजे हुए छोटे से बँगले की झाँकी दीख पड़ी। कुछ लोगों के चश्मे, कुछ के काले डिनर-सूट, कुछ की चमकीली साड़ियों की चंचल गति भी दिखायी दी। एक बार ज़ोर का अट्टहास हुआ!

मेरा शरीर काँप उठा। मन में सोचा, 'कहीं इन लोगों को तो मेरी, साड़ी खरीदते वक्त की दुर्दशा नहीं मालूम हो गयी है!'

लैम्प-पोस्ट से हटकर एक झाड़ी की आड़ में खड़ा हो गया। उसी बँगले की दालान में कोई चीज़ झूलती सी दीख पड़ी। सम्भवतः वर्षगाँठ का झूला था। और उस पर बैठा था मेरी खोई हुई किस्मत का सितारा!

अब तो सदा के लिए मेरे पैर बँध गये थे! किस मुँह से उसके दरवाजे तक जाता? दुश्मन भी इतना आघात नहीं करेगा, जितना

उस कलमुँहे गिरहकट ने किया। जिन्दगी में आज तक कितनी बार मेरा मनीबेग भरा रहा है! पर कभी किसी ने वार नहीं किया। क्या वह गिरहकट एक दिन नहीं ठहर सकता था? आज जब मेरी किस्मत जागने वाली थी, तभी यह हुआ! ठीक है ईश्वर का अन्ध-विधान इसी को तो कहते हैं!

एक ख़याल आया कि अगर वह गिरहकट मिल जाय, तो उससे अनुनय-विनय कर अपना ही रुपया उधार माँग लूँ और फिर अगर देना पड़े, तो उसे ब्याज-सहित लौटा दूँ! इसी ख़याल में मैंने सभी आने-जाने वालों को घूरना शुरू कर दिया। उस वक्त मेरी नज़रों में सभी गिरहकट दीखे! किन्तु मेरा गिरहकट न मिल पाया!

एकाएक मनोरम संगीत की ध्वनि गूँज पड़ी। दूरस्थ बँगले में निशा का गीत गूँज रहा था और मेरी जेब में रखा हुआ निशा का आमन्त्रण-पत्र मेरे सम्पूर्ण अन्तराल को बेध रहा था!

घुटी हुई हसरत की निशानी के समान उस पत्र को मैंने निकाला और चाव के साथ फिर से पढ़ा—"...परसों मेरी सत्रहवीं वर्षगाँठ है। उस दिन मेरी आयु के विकास को कौन समझ सकेगा? अपने जीवन की सफलता और विफलता का परिचय किससे पूछूँगी? इन्हीं शब्दों में तुम्हें अपनी वर्षगाँठ का आमन्त्रण दे रही हूँ!..."

उस आमन्त्रण का भार और अपनी बदनसीबी को लेकर मैंने घर की ओर कदम बढ़ाये!

मुसीबतों की दुनिया में बहुत बड़ी एकता है। जब आती हैं एक साथ मिलकर आती हैं। रुपया गया, भविष्य का सुख नष्ट हो गया और फिर पाँच मील पैदल चलना पड़ा! क्योंकि ट्राम का किराया दे सकूँ; इतना भी पैसा पास में नहीं बचा था।

जैसे-तैसे घर आया, तो हृदय के अन्धकार को कमरे के अन्धकार से गले मिलते पाया। कई बार 'किरन-किरन' पुकारने पर भी कोई उत्तर नहीं मिला। नौकर भी ग़ायब हो गया, मानो वह भी मनीबेग में

पड़ा हुआ था। आधी रात तक सड़कों पर पैदल चक्कर और उसके बाद खाली पेट में चूहों की दंड-बैठक !

सूनी रात बीत गयी। दिन निकला और ख़त्म हो गया। पैसे भी नहीं। दो दिन तक मनी आर्डर पाने की उम्मीद भी नहीं। वाह रे मनीबेग !

अपनी दुर्दशा की हालत में, उन दिनों मैं आकांक्षा करने लगा कि निशा तो क्या उसके यहाँ का कोई भी आदमी मेरे यहाँ न आये। नहीं तो रही-सही इज्ज़त भी चली जायगी।

दो दिन बाद किरन आया। अपने क्रोध में, मैं उसकी जलती आँखें; सूखे पत्ते के समान उतरा चेहरा और तूफ़ानी बादलों के समान अस्तव्यस्त वेश भी न देख सका। मैं सोच-सोच कर गालियाँ देने लगा और वह अद्भुतालय के नराकार मुर्दे की भाँति खड़ा रहा !

एकाएक मुझे आभास हुआ, मानो उसका शरीर काँच के टूटे हुए टुकड़ों को जोड़ कर बनाया गया है और अब छूते ही चूर-चूर हो जायगा। उसकी पीठ पर हाथ फेरने से मुझे ज्ञात हुआ कि दुनिया का निर्माण केवल निशा की आँखें ही नहीं करतीं !

'बाबू जी, मेरी मा की तबियत खराब थी। दुनिया में अब वही तो मेरे लिए सब कुछ है' —उसने सहमते हुए कहा।

'हाँ, हाँ फिर अब तो अच्छी हैं ?'

'इसीलिए नहीं आ सका, बाबू जी ! तनखाह मिली नहीं, पैसे भी नहीं थे।'

पैसे का नाम सुनते ही मेरी आँखों में संसार के निकृष्टतम पापी, गिरहकट, की तसवीर झूलने लगी। उस नीच ने मेरे अरमान मिटाये और उसी ने किरण की मा को मृत्यु के द्वार तक पहुँचा दिया ! (अब सोचता हूँ कि मनीबेग के न खोने से निशा की साड़ी तो आ जाती, किन्तु किरण की समस्या कुछ हल न हो पाती !)

मैं सोचता रहा और किरण कहता गया—'मा की चाँदी की दो चूड़ियाँ रहन रखने गया, परन्तु कुछ भी न हुआ।'

'तो तुम्हारी मा अच्छी तो हो गयी ?'

"बाबू जी; जब मैं सब तरह से हार गया तो..."

"पहले तुम बताओ, मा की तबियत कैसी है ?"

"बाबू जी, जब लौटने लगा, तब रास्ते में पानी बरसने लगा। मैं भागने लगा। पैर फिसल गया। मैंने सोचा, 'अभी अगर कोई ट्राम या मोटर मेरे ऊपर से निकल जाय और मैं मर जाऊँ, तो अच्छा हो ! इस मुसीबत से तो मरना ही बेहतर ! परन्तु जब उठा बाबू जी, तो भगवान की दया लेकर उठा।'

"क्या हुआ ?"

"बाबू जी, एक था मनीबेग..."

"क्या कहा ?"

"हाँ, बाबू जी, एक काले रंग का मनीबेग मेरे हाथ के नीचे पड़ा मिला। उसमें तीस रुपये थे। उस समय मुझे इतना होश भी नहीं रहा कि आश्चर्य करूँ या भगवान को धन्यवाद दूँ। मैं सीधा घर की ओर भागा। बारह डाक्टर को दिये और पाँच दवा में खर्च हो गये। बाकी..."

किरण ने मनीबेग निकाला। वही मनीबेग, जिसे खो कर मेरी क़िस्मत खो गयी थी और जिसे पाकर किरण की मा के प्राण लौट आये थे !

किरण ने कहा—"जिसका यह मनीबेग हो भगवान उसका भला किरें...जुग...जुग..."

और तब मुझे अनुभव हुआ कि इस आशीर्वाद का उपहार लेकर मेरे हृदय में निशा के घर जाने की नयी ताक़त आ गयी है।

———

हत्यारा

जीवन भर अभावों और बेचैनियों से लड़ते-लड़ते एक दिन रामदीन ने देखा कि उसके जीर्ण, नष्ट प्राय: झोपड़े के सामने का तालाब भी सूख चला है।

यह तालाब रामदीन का बड़ा पुराना साथी, सच्चा हमदर्द था। एक दु:खद धुँधलेपन के साथ उसे याद आया कि इसी तालाब के किनारे बचपन में उसने दिन-दिन भर मस्ती के साथ समय बिताया है। जेठ-बैसाख की उबलती दोपहरिया में, सावन भादों की उमड़ती बदली और धुँआधार बारिश में, शरद के प्रभातों की निखरी रोशनी में और हेमन्त की दाँत बजाने वाली नग्न ठिठुरन में—इसी तालाब में उसने अपने काले पंक-पूरित शरीर को जी भर-भर डुबोया है।

इस तालाब के किनारे बचपन में उसकी मा बैठकर बरतन माँजा करती थी। इसी तालाब के किनारे नित्य बरतन माँजते-माँजते उसकी औरत, भरी जवानी में एक अधमरा सा माँसपिंड प्रसव करके अपने भगवान के घर चली गयी। आज भी उसकी बेवा अन्धी बहू बिँदिया इसी तालाब के किनारे बैठकर मूक, मन्थर, संचारहीन यन्त्र-सी, जीवन के निर्जीव संस्मरणों को चमकाया करती है।

रामदीन ने वे दिन भी देखे हैं जब इसी तालाब के चारों ओर सिंघाड़े की बेलों का संसार छाया रहता था। कुछ नीला, कुछ

सफेद पानी; साफ बड़ी-बड़ी बूँदों में, चारों ओर टुकुर-टुकुर निहारा करता था।

आज रामदीन ने भले ही जीवन और उसके प्रतिक्षण घटित होनेवाले परिवर्तनों ।पर विजय पा ली हो, भले ही इनक़लाब की दुनिया से निकल कर कठोर जड़ता और शेष जीवन-व्यापिनी एक-रसता का एक दुखता हुआ अंग बन गया हो—पर यह तालाब तो जीवित रहने के लिए नहीं जी रहा था।

भले ही रामदीन के सामने उसका हाथी सा जवान लड़का।मेंढक की तरह दम तोड़कर, उसकी छाती पर अपनी अन्धी चट्टान रखकर, भूखे-प्यासों की इस बेहया बस्ती से दूर निकल गया हो! और रामदीन को अपने दैनिक कार्यक्रम में एक विदारुण कर्कशता, एक टीस-भरी टंकार के अतिरिक्त अब और कुछ अवशेष न हो! पर ऐसी शीतल छाती वाले इस मुक्त जल-कल्लोल-प्रवाह में कौन सी आँच पहुँच गयी?

दिन चढ़ चुका था—काफी से ज्यादा। अन्धी बिँदिया जाँत पीस रही थी। रामदीन ने खाँसते हुए पुकारा—'बहू''

''क्या है दादा?''

''हमारे मकान के सामने का तालाब सूख गया। तुम तो देख ही नहीं सकतीं, बहू। मैं तो इसे शुरू से देखता आया हूँ। इसके पानी की एक-एक धार, किनारे की एक-एक सेवार, एक-एक काई मेरी पहचानी हुई है।''

''होगा दादा''—बिन्दिया ने गीले कंठ से कहा। ''दुर्दिन में खूँटी भी हार लील लेती है। मैं अन्धी ठहरी। इसी तालाब से पानी ले आती थी। किनारे बैठकर बरतन माँज लेती थी। अब न जाने कहाँ जाना होगा। यदि मैं न जा सकूँगी, उतनी दूर, तो तुम्हें ही जाना होगा।''

''मगर इसको अभी सूखने की जरूरत क्या थी? शुरू से इसने मेरा साथ दिया। फिर मेरी जिन्दगी में यह क्यों सूखा? मेरे मरने

के बाद इसका सूखना-न-सूखना मेरे लिए कोई विशेष अन्तर न रखता। नदी के उस पार जब मुसाफिर निकल गया, तब इस पार चाहे आग लगे, चाहे बिजली गिरे, उसे क्या ? आदमी की जिन्दगी भी तो कुछ ऐसी ही होती है, बहू।"

बिँदिया की अन्धी सत्ता पूर्णरूप से मूक चीत्कारों में उसकी दृष्टिहीन पुतलियों को छेद-छेद कर मानों रामदीन की बात का समर्थन कर उठी !

रामदीन का काम था दिन भर सिर पर टोकरा रख कर मज़दूरी करना और बिँदिया का घर पर रहकर अन्धकार के महासागर में एकाकी टकराते रहना।

शाम को जब रामदीन लौटा, तो बिँदिया और उसका तीन साल का बच्चा आकर झोपड़ी के दरवाजे पर खड़े हो गये। यही वह स्थल होता है, जब एक भिखारी भी बादशाह हो जाता है ! उसे प्रतीत होता है उसमें भी कुछ शक्ति, बल और ज्ञमता है। वह भी दो को खिलाकर खाता है।

पर आज तो रामदीन दिनभर में एक पैसे की बीड़ी उधार लेकर पी गया था। कहीं भी कुछ काम नहीं मिला। घर में कुछ था ही नहीं। बिँदिया उसकी जड़, मौन पत्थर-चेष्टा देखकर, समझकर जान गयी— आज की रात काल रात होने वाली है !

यह उसके जीवन में पहला मौक़ा नहीं था। जीवन की कितनी ही रातें उसने इसी मौत-जैसी ठंडी निराशा में भिगो डाली हैं और सारी रात उसी के गीलेपन में अपनी दृष्टिहीन आंखों की तरी को एकाकार करती रही है।

वह भूखी रह सकती थी। रामदीन भी यदि औसत लगाया जाय, तो क़रीब-क़रीब आधी जिन्दगी भूखा ही रहा होगा। पर तीन साल का 'टीपू' ! नन्हा और जीवन के नर्क से अपरिचित !

बिँदिया काँप उठी ! घर में एक पैसा नहीं है। आस-पास दूर-दूर तक कोई झोंपड़ी-मकान भी नहीं है ! रात को उसने गेहूँ पीसे

थे। मजूरी के पैसे पहले ही मिल चुके थे। यदि ज्ञात होता तो उसमें से पाव-आध-सेर आटा निकाल लेती। अपने लिए नहीं, अपने उस सजीव मांस-पिंड के लिए, जिसे उसने पौन साल अपने अधभूखे पंजर में पाला था!

रात भर झोपड़ी के अन्दर एक तरफ रामदीन पड़ा खाँसता रहा और दूसरी ओर बिंदिया अपने तीन साल के भूखे बच्चे को समेटे ज्यों-की-त्यों पड़ी रही। रात को चौथे पहर उसे हहराकर बुखार चढ़ आया। उसके कराहने में मासूम बच्चा भी जगकर, घबराकर, रो उठा!

रामदीन ने जब सुबह उठकर झोपड़ी का टट्टर एक ओर हटाया, तो तालाब की ओर देखते ही वह फिर उदास हो गया। उसे रह-रहकर यही मालूम होता, जैसे यह कोई बहुत बड़ी आग है, जो धरती के भीतर सुलग रही है। अगर इतना बड़ा और इतना पुराना तालाब उसकी अगोचर अविज्ञानित आँच में सूख जा सकता है, तो इस बस्ती, इन मकानों, इन मन्दिरों, के जलने में भी अब देर नहीं है! वह भयभीत भी होने लगा!

रोज की तरह वह अपना टोकरा सँभाल कर काम की तलाश में निकला।

एक मजदूर की जिन्दगी ही क्या! न घर में आटा था न पास में पैसा! बिंदिया घर में पीस कर कुछ पैसा पा सकती थी। आज वह अपनी ही यन्त्रणा में झुलसी जा रही थी। बनिये के कई रुपये हो गये थे, जो रोज तक़ाजा करता था, मारने की धमकी के साथ-साथ।

रामदीन ने सोचा, 'चलूँ! जाते ही जो कुछ मिलेगा, उसे घर में लाकर पहले टीपू को खिला दूँगा फिर बोझा ढोकर शाम को अपने और बिंदिया के लिए पकाऊँगा।'

मगर पूरा दिन उसी तरह बीत गया! उसी सरलता और उद्भावना से! दिन भर तलाश में रहा। न जाने कितनों से याचना की—भीख माँगी! मगर एक पैसा भी न मिला। एक-एक क्षण आग का तिनगा हो

रहा था ! आत्मा और कलेजे को जलाता हुआ वेग के साथ चला जाता !

शाम को भूखा, निराश, थका हुआ घर लौटा ! टीपू भूख से व्याकुल होकर बिन्दिया से रोटी माँग रहा था और रो रहा था। उसका मुँह सूखकर छोटा-सा हो गया था। आँखों में भूख ! तृष्णा !—मगर रोटी वहाँ कहाँ ?

वह ग़रीब तो स्वयम् रो रही थी। अपनी पीड़ा—भूख—से नहीं ! वरन् अपने कलेजे के टुकड़े को बिलखते देख कर ! वह अन्धी थी। दुनिया को तो न देख सकती थी, पर उसके शरीर का कोई भाग—भले ही अब वह स्वतन्त्र अस्तित्व बन गया हो—भी तो उससे छिपा न था !

उसके रोम-रोम से धुँआ निकल रहा था !

रामदीन को देखते ही टीपू उससे लिपट गया और कुर्ता उठाकर अपना भीतर को धँसा हुआ, सिकुड़ा, पेट दिखाने लगा ! रामदीन तो उस समय बेहोश-सा था। उसे यह भी न मालूम हुआ कि कब उसके सीने से लिपटा हुआ वह भूखा बच्चा—जिसके गालों पर आँसुओं की नीली रेखाएँ अपनी शुष्क प्रगति छोड़ गयी थीं—सो गया।

सोकर उठते ही फिर सुबह काम की खोज में निकला। टीपू को सोते से जगाने की हिम्मत नहीं पड़ी। अगर उसने रोटी माँगी, तो क्या दूँगा ? मगर क्या होनेवाला था ! उस दिन भी कोई काम नहीं मिला !

वह पागल की तरह सड़कों पर घूमता रहा। किसी ने उसकी ओर नहीं देखा। एक बाबू साहब अपने बच्चे को लिये जा रहे थे। उसके हाथ में बिस्कुट थे। वहीं पर बच्चे का एक बिस्कुट गिर पड़ा। रामदीन ने झपट कर उसे उठा लिया और तेज़ी से घर की ओर भागा।

टीपू भूख से तड़पकर सो गया था। बिंदिया पड़ी थी। आँखें बरसाती नाले-सी चल रही थीं। तीन दिन में महीनों की-सी बीमारी घेरे थी, जैसे रीढ़ टूट गयी हो। मुँह से बोल नहीं निकलता था। बच्चे

को जगाया। बिस्कुट खाने को दिया। दो दिन की भूखी रोगिणी और बूढ़ा रामदीन ग्रास खाकर लेट गये!

तीसरे दिन भूख की ज्वाला से स्वतः सुलगता हुआ जब रामदीन घर लौटा तो उसके पैर काँप रहे थे! अंगों से शोले निकल रहे थे! लड़खड़ाता हुआ वह घर में घुसा।

बच्चा जमीन पर पड़ा था! आँखें गड्ढे में धुस गयी थीं। खाट पर पड़ी बिँदिया शिथिल—कातर थी। अन्धी थी, पर बच्चे की तरफ ही देख रही थी। बीच-बीच में टीपू आर्तनाद करता हुआ उसकी ओर देख लेता था। बिँदिया ने रामदीन की मूक वापसी से सब कुछ जान लिया।

टीपू रामदीन को देखते ही झपटकर उठा—"बाबा, रोटी लाये! दो—अभी दो! कच्ची ही दो!"

निरीह झोपड़ी की गोद! रात काली और भयानक! आकाश में तारे सिसक रहे थे! नीचे हाहाकारमयी यन्त्रणा में ये प्राणी। कुशल इतनी ही थी कि झोपड़ी की छत से टकराकर उनका आर्तनाद भीतर-ही-भीतर उमसकर रह जाता था! बाहर नहीं निकल पाया था! नहीं तो......जाने भी दो।

रामदीन का रक्त-प्रवाह भी रुक-सा रहा था। झोपड़ी की छत की साँसों से जो आसमान दिखायी देता था, वह भी थरथरा रहा था। टीपू उसके पास ही लेटा था। रामदीन की पूरी जिन्दगी अपनी सारी तसवीरें लेकर उसकी आँखों में घूम चली।

बीच-बीच में जब टीपू धीरे से क्षीणप्राय कंठ से 'रो--टी' कह उठता, उस समय रामदीन के सामने के चल-चित्रों का सिलसिला खट से टूट जाता। 'तीन दिन का भूखा टीपू!' रामदीन आगे सोच न सका। भूख में घुटता हुआ अबोध शिशु और दूसरी ओर अन्धी बहू की असह्य दारुण वेदना!

रामदीन टीपू के शरीर पर हाथ फेरने लगा। टीपू ने कुम्हलाकर आँखें खोलीं। उस सूखे तालाब-सी ही जड़ता और स्थिरता उनमें भी

आ चली थी। पुतलियाँ ऊबड़-खाबड़ मिट्टी की! ऐंठी, अकड़ी दरारों की भाँति ही भयावह हो रही थीं!

रामदीन को ज्ञात हुआ, जैसे वह शराब के नशे में है। अचेतन! अवसाद-पूर्ण! असार! अपने शरीर, हाथ, आँख, दिल—किसी पर उसका अधिकार नहीं! सब उसके हाथ से बाहर निकले जा रहे हैं।

टीपू ने एक बार फिर कोशिश करके रोटी माँगी। रामदीन के गतिहीन हाथ टीपू के गले पर दौड़े! उसकी वक्र निःसत्व उँगलियाँ कफ़न का ताना-बाना गूँथ चलीं!

कई मिनट ऐसे ही वह स्तब्ध और पत्थरवत् खड़ा रहा। नशा अभी ख़तम नहीं हुआ था। तीन दिन का भूखा टीपू तो अपनी मंज़िल की ओर चल पड़ा था!

नशा उचटा, सपना टूटा और चेतना में भूडोल आया! रामदीन तीर की तरह उठ बैठा और बिँदिया के पास चला गया। आधी बेहोश और आधी सोयी हुई, वह तीन दिन की भूखी अन्धी, मानो सपने में टीपू को भर पेट मिठाई खिला रही थी!

रामदीन ने पास आकर उसे झकझोर डाला! परन्तु फिर भी कदाचित् उसका समाँ न टूटा! लेकिन रामदीन ने जब मतवालेपन की-सी मादकता में उसका गला घोंटा तब तो वह उसी प्रकार कें-कें कर उठी, जैसे सड़क पर पड़े कुत्ते ऊपर से लारी निकल जाने पर चीख़ उठते हैं!

रामदीन फिर झोपड़े में फावड़ा तलाश करने लगा। तीन दिन के भूखे शरीर में भी दफ़नाने की ताक़त शेष रह ही जाती है! तालाब की सूखी ज़मीन में रात को अखंड रूप से उसका फावड़ा चलने लगा। सुबह होते-होते दो गढ़े तैयार हो गये। एक में उसने भीतर से लाकर टीपू को गाड़ दिया और दूसरे के लिए बिँदिया को लाने चला।

आज जब वह फटती हुई पौ में अपनी अन्धी बहू को दोनों हाथों में उठाये, झोपड़ी से गढ़े की ओर चला, तो उसका शरीर थर-थर

काँप उठा ! पैर लड़खड़ाने लगे और आँखों से तीन-चार बूँद पानी चू पड़ा ! इससे ज्यादा की कदाचित गुंजायश भी न थी !

दूसरे गढ़े में बिँदिया को गाड़ कर, दोनों गढ़ों पर मिट्टी तोप कर वह हाँफते-हाँफते खड़ा हुआ, तो उसने एक सहूलियत की साँस ली ! दोनों को एक साथ न गाड़ कर उसने अलग-अलग गाड़ा था। कहीं क़ब्र में भी टीपू बिँदिया से रोटी न माँगे !

मरने के बाद भी प्राणी की भूख-प्यास कहीं चली नहीं जाती, ऐसा उसका विश्वास था। उसने अपने संगी रघुनाथ से सुना था कि कैसे उसका भूखा जवान लड़का—जो बिना दवा, पथ्य और रोटी के मरा था—नित्य उसके खाने के समय काँपता हुआ धीरे-धीरे, अज्ञात, अलक्ष्य से उतर कर थाली के पास बैठ जाता था !

आज इस अवस्था में भी रघुनाथ की बात याद आते ही वह कंटकित हुआ ! उसका एक-एक रोम खड़ा हो गया ! वहीं वह धम्म-से बैठ गया !

धीरे-धीरे दोपहर की किरणें आकाश में, ऊपर चढ़ने लगीं ! रामदीन कब तक यहाँ पड़ा रहा, विक्षिप्त और संत्रस्त, वह नहीं जान पाया। सहसा, जब उसकी दिवा-अचेतनता टूटी, तो उसने देखा उसे पाँच-छै लोग घेरे खड़े हैं, जिनमें दो पुलिसवाले भी हैं। उनके साथ चल पड़ने के लिए प्रस्तुत होते ही वह तालाब की ओर देख कर बड़ी जोर से चिग्घाड़ उठा !

तालाब में फिर पानी लहरा रहा था, पर इस बार उसका रंग फीका लाल—कुछ-कुछ वैसा ही, जैसा मछलियों को काट कर, धोने पर, उनका धोवन !

मोह-जाल

शिशिर की ठिठुरती रात—आकाश के तारक-मोती जैसे वसुन्धरा के गीले अंचल पर ओस-बिन्दुओं में झर पड़े हैं। चारों ओर मोह-जाल-सा अन्धकार घना हो रहा है। प्रकृति का अणु-अणु चेतना-हीन हो सो रहा है। कँपकँपी पैदा कर देनेवाली जाड़े की रात आधी भीग चुकने को है।

इटारसी-जंकशन का प्लेटफार्म अब भी बिजली के उज्ज्वल प्रकाश से चमक रहा है। अभी आकर खड़ी होने वाली पंजाब मेल पल भर में ही गहरे नदी-नाले और ऊँचे वन-पर्वत पार करती हुई, निर्भीकतापूर्वक बम्बई की ओर बढ़नेवाली है। गाड़ी छूटने की दूसरी घंटी बज चुकी है। सभी यात्री अपने-अपने डिब्बे को नीड़ बना कर आनन्द से उसमें दुबक गये हैं। पर एक, केवल एक व्यक्ति—गिरधारी—अब भी ठंड को भीगती रात में, गाड़ी के पीछे रेलवे पाँतों के पास चोर-सा चुपचाप खड़ा है।

प्राण कँपा देने वाली शीतल बयार की एक-एक सिहरन, उसके रोम-रोम में बरफ गला रही है। पर वह तो हिमालय-सा अचल खड़ा सोच रहा है—'कब तीसरी घन्टी बजे, गाड़ी दो कदम आगे बढ़े और मैं लपक कर उसमें चढ़ जाऊँ।' वह अच्छी तरह जानता है कि चलती हुई पंजाब मेल में चढ़ना सरल नहीं—प्राणों पर खेलना है। परन्तु उसे तो चढ़ना होगा, क्योंकि उसके पास नपा-तुला समय है और उसे पहली गाड़ी से ही खँडुआ पहुँचना है न!

टिकट बाबू ने टिकट न होने के कारण अभी-अभी उसे गाड़ी से उतार दिया है। बेचारा गिरधारी बाबू के सामने जी खोल कर रोया, उनके चरण छुए और हजार-हजार प्रार्थनाएँ कीं, फिर भी बाबू ने उसे उतार ही दिया—पत्थर के बने बाबू ने! पर गिरधारी तो खँडुआ जायगा और इसी गाड़ी से जायगा—'चाहे उसके प्राण भले ही चले जाँय!

परन्तु प्राण जायँगे कैसे? उसके प्राण तो खँडुआ के एक अनाथालय में—तीन साल की मातृहीना बालिका की ममता में—बसे हैं, उसके पास हैं ही कहाँ?

टनन्-टनन् स्टेशन की तीसरी घंटी बजी। गार्ड ने हरी बत्ती दिखलायी। एँजिन ने सीटी दी और पंजाब मेल तेजी पर आयी। इसी समय गिरधारी गिरता-पड़ता चलती ट्रेन से झूल गया। गाड़ी के जरा आगे बढ़ने पर वह खिड़की खोल अन्दर आने की भर सक चेष्टा करने लगा! परन्तु व्यर्थ! सब व्यर्थ! वह सेकेंड क्लास का डब्बा था और भाग्य से उस दिन उसका प्रवेश-द्वार भीतर से बन्द था। यहाँ भी दुर्भाग्य ने गिरधारी का साथ न छोड़ा!

अब पंजाब मेल हवा से बातें कर रही है और ममता का मारा अभागा पिता, दरवाजे के दोनों सीकचों से चुम्बक-सा चिपटा हुआ—मृत्यु और जीवन के बीच झूल रहा है!

गाड़ी बरसात की बौराई नदी-सी निरन्तर आगे बढ़ रही है। दाँत कटकटा देने वाली प्रलयकारिणी शीतल पवन, गाड़ी की तीव्र गति के साथ मिलकर साक्षात् मृत्यु बन, अर्ध-नग्न गिरधारी के जीवन से खेल रही है! वह दो सौ फीट गहरी नदी का अगाध जल! यह विषभरी नागिन सी भयंकर खाई! और बियाबान जंगल जिसे भयावने काल से अन्धकार ने घेर रखा है!

गिरधारी अर्धचेतन सा तमोमयी रजनी के बीच इन सब में अपना जीवन पढ़ता चला जा रहा है। नागपुर की एम्प्रेस मिल के धुँए में घुटने

वाला जीवन प्रतिदिन आठ आना कमाता है। महीने के अन्त में पन्द्रह रुपये पाने का मोह ही उसे खँडुआ से नागपुर खींच लाया है। पैसे और छुट्टी के अभाव ने ही गिरधारी के जीवन को इतना सस्ता बना उसे मृत्यु-भँवर में डाल दिया है।

यदि वह छुट्टी खत्म होते ही काम पर हाजिर न हुआ तो उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा। फिर वह क्या करेगा? कहाँ जायगा? प्रभु के मंगलमय वरदान-स्वरूप ही जैसे उसे वह पुतलीघर का काम मिला है, नहीं तो वह भूखों तो मर ही रहा था।

पुतलीघर के ब्वायलर में दिन भर कोयला झोंकते-झोंकते वह पसीना-पसीना हो जाता है। वह सवेरे पाँच बजे मुँह अन्धियारे उठता है और फिर शाम को एक पहर रात बीत जाने पर कहीं चैन की साँस ले पाता है। कोयला झोंकते-झोंकते कभी-कभी उसकी आँखों में निराधार ममता का छोटा-सा गोरा-गोरा मुँह झूलने लगता है और बरबस ही उसकी आँखें करुणा से भर-भर आती हैं!

उसके साथी यह देखकर जब कभी पूँछ बैठते हैं—"क्यों रे? क्यों रोता है? क्या हुआ?"—तब गिरधारी अपने मन की व्यथा मन में ही छिपाकर सहज भाव से कह देता है—"कुछ नहीं, आँख में किरकिरी चली गयी, और धुँआ भी तो खूब हो रहा है।"

कोई क्या जाने कि इस आँख की किरकिरी में गिरधारी की ममता रो रही है, जिसे वह अकेली छोड़ कर पापी पेट के लिए इधर कोसों दूर आ बसा है!

उसकी ममता अकेली है—नितान्त अकेली! पूरे कुटुम्ब में अपने पुरखों को पानी देने वाला केवल एक वही तो बचा है। अब यदि गिरधारी का अपना कोई है—तो वह है ममता। आज से तीन वर्ष पहले उसका अपना कोई एक और था—वह थी ममता की मा—दुखिया।

दुखिया जन्म की दुखियारी रही! गिरधारी एक दिन भी उसे बैठा कर न खिला सका। विवाह के बाद ही पति के अचानक बीमार हो

जाने के कारण उसे अपनी हल्दी लगी देह को मजदूरी में झोंक देना पड़ा। तब से उसका पैर बाहर जो निकला, सो निकला ! फिर उसने कभी बेकार बैठकर पति की कमाई न खायी।

दोनों प्रातः किरण के साथ ही जागते और जैसे पृथ्वी किरणों की बुनी सुनहली साड़ी पहन, फूलों भरी अपनी गोद को निहार कर खिल उठती है वैसे ही ये दोनों घर से निकल काम पर चल देते। फिर सन्ध्या को जब बन के पंछी-पंछी अपनी तृष्णा खोकर आकुल मन नीड़-नीड़ में आ बसते, वैसे ही ये दोनों भी क्लान्तगात २b पुलक-प्राण, घर लौटते। फिर ये दोनों होते और होता सुनसान रात के बीच टूटा झोपड़ा ! जिस पर चैत की चाँदनी अपना हास बिखराती ! भादों की अँधेरी बिजली चमकाती ! और बसन्त की शोभा फूल बिछा जाती !

गिरधारी दुखिया के साथ झोपड़े में रह कर भी महलों का सुख अनुभव करता। उसे दुनिया के कोने-कोने में हास-उल्लास की फुल-झड़ियाँ दिखायी देतीं और ये दो प्राणी विशाल विश्व का सभी कुछ अपने में पाकर सदा परिपूर्ण होकर रहते।

परन्तु दुखिया ने बीच में ही गिरधारी का साथ छोड़कर एक दिन उसे एकाकी बना दिया। दुखिया तो 'अपने पंख खोल' उस अनन्त में लीन हो गयी, परन्तु गिरधारी को युग-युग के लिए रोना-बिसूरना छोड़ गयी। आज दुखिया तो इस संसार में नहीं, परन्तु उसकी छाया—ममता के रूप में—अब भी गिरधारी के साथ है !

इस ममता का जन्म ही तो दुखिया के जीवन में मौत बनकर आया। इसीलिए वह इस मुट्ठी भर चाँदनी सी ममता को प्राणों के समान चाहता है। उसने ममता को अनाथालय में रख तो दिया है, परन्तु फिर भी अपना पेट काटकर प्रतिमास उसके खर्चे के लिए तीन रुपये भेजने में कभी नहीं चूकता।

आज ही उसे अनाथालय के मैनेजर का तार मिला था—'ममता सख्त बीमार, जल्दी आओ।' तार पाते ही वह बावला हो उठा। उसने हाथ-पैर जोड़ कर तुरन्त ही तीन दिन की छुट्टी ली और पहली गाड़ी से खँडुआ के लिए रवाना हुआ।

पंजाब-मेल अब सीधी खँडुआ जाकर ही खड़ी होगी। इन अढ़ाई तीन घंटे भर गिरधारी का जीवन अपनी समस्त शक्ति लगा मृत्यु से लड़ेगा। गाड़ी बियाबान जंगल के बीच से सर-सर करती हुई धुँआ सी उड़ाती चली जा रही है और गिरधारी मौत और जीवन के बीच झूलता हुआ मनोविचारों की उलझन में पड़ा हुआ सोच रहा है—'क्या मैं इस भीषण परिस्थिति को जीतकर अपनी आँखों की पुतली-ममता को देख सकूँगा? मुझे तो इसमें सन्देह ही है! तब तक क्या देखने के लिए मेरी आँखें खुली रह सकेंगी?'

'आज यदि मेरी दुखिया होती तो मुझे इस प्रकार बेचैन होने की रत्ती भर भी जरूरत न थी। जब मा अपनी लाड़िली बेटी को कलेजे से चिपटा कर सोती, उसी समय उसकी आधी बीमारी भाग जाती और उसके प्यार की एक-एक थपकी नव-जीवन का संचार करती। ममता को मेरा अभाव तनिक भी न खटकता। माता के उदार स्नेह और मातृत्व भरे आँचल के छोर में न जाने ऐसा क्या रहता है जिसे पाकर सन्तान को संसार में फिर किसी और की अपेक्षा नहीं रह जाती।

पर बेचारी ममता की मा भी तो नहीं। उसने तो मा का मुँह भी नहीं देखा! वह जानती ही नहीं कि उसके भी एक माँ थी जो उसका मुँह देखने के लिए युग-युग से अधीर बैठी थी!

भगवान की दया से उसने मेरे साथ रह कर दुनिया का सब कुछ पा लिया था। यदि वह भूखी थी तो केवल एक मातृत्व की। एक दिन वह भी उसे मिला। वह एक बच्ची की मा हुई। उसने अपने स्वरूप की ममता में प्रतिष्ठा की। परन्तु वह अपने इस दूसरे रूप को जी

खोल कर देख भी न पायी। उसके छोटे-छोटे गुलाबी गालों पर प्यार भरे दो चुम्बन भी न आँक पायी कि उसे इस संसार से कूच कर देना पड़ा !

आज उसकी आत्मा उस अदृश्य लोक से हमारी यह स्थिति देख-कर आठ-आठ आँसू रो रही होगी। उसके रोम-रोम में स्वर्गलोक से इस मर्त्य-लोक में आने की आकांक्षा जाग उठी होगी ! उसके प्राणों में अधीरता होगी ! मुख विषाद से उदास होगा और आँखों में आँसू छलछला रहे होंगे !

और ममता ! निराधार ममता का क्या हाल होगा ! अभी उसमें तो इतनी समझ है नहीं कि वह अपनी स्वर्गीय मा और इस अभागे पिता के लिए चिन्तित हो, अधीर हो ! परन्तु उसकी आत्मा रो-रोकर मुझे पुकार रही होगी ! इस समय उसे मेरी जरूरत होगी और वह पल-पल पर मेरी याद कर चाहती होगी कि मैं कब उसके पास पहुँचूँ। पर मालुम नहीं वह मुझे पा सकेगी अथवा नहीं !'

'दुखिया के मरने के बाद लोगों ने चाहा कि मैं फिर से अपना घर बसा लूँ—अपना दूसरा विवाह कर लूँ—परन्तु ममता के मोह ने यह विचार मेरे पास न फटकने दिया ! मैं सदा यही सोचता—'दुखिया मेरे पास नहीं तो क्या हुआ उसकी डोलती बोलती छाया तो मेरे साथ है। इसी को पाल-पोसकर बड़ा करूँगा, पढ़ाऊँगा—लिखाऊँगा और हरे मंडप के नीचे किसी को बेटी सौंपकर बेटा पाऊँगा—जिसके कन्धों के बल पर मेरा बुढ़ापा कटेगा ! परन्तु मालूम नहीं मेरी कल्पना की दुनिया अब क्या रूप धारण करती है !'

यह सोचते-विचारते धीरे-धीरे गिरधारी का जीवन चुकता चला जा रहा है। पंजाब मेल अब भी सनसनाती हुई, मृत्यु रेखा-सी टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ी रास्ता चीरती गड़-गड़-गड़ गहरे नदी-नालों के पुलों की गड़गड़ाहट सुनाती, अपने आस-पास उथल-पुथल मचाती खँडुआ के पास पहुँचने को है। और गिरधारी! खँडुआ-अपनी दुलारी बिटिया

के पास पहुँच कर भी मानो चिरकाल को उससे दूर हो, अनन्त दूरी पर जा बसने को है !

सहसा खंडुआ स्टेशन ! खँडुआ स्टेशन ! खँडुआ स्टेशन ! की पुकार मची। भीषण आँधी-सी कम्पायमान गाड़ी स्थिर हो गयी। उतरने-चढ़ने वाले यात्रियों के शोर-गुल ने प्रायः सभी की आँखें खोल दीं ! सबकी नींद टूटी ! परन्तु गिरधारी ममता के ध्यान में निमग्न—सेकेन्ड-क्लास कम्पार्टमेन्ट के पायदान पर समाधि लगाये बैठा है ! मालूम नहीं उसकी यह समाधि फिर कभी भंग हुई या नहीं !

और कोई क्या जाने उसकी ममता उसे मिली अथवा नहीं ! परन्तु उसकी अधखुली आँखों में अब भी प्रतीक्षा थी, उत्सुकता थी, और थी भीषण विकलता एवम् अशान्ति !

सँपेरा

सज्जनसिंह सँपेरा था। सुजानपुर गाँव के उत्तरी कोने में उसकी छोटी सी झोपड़ी जिसमें वह अपने नाग के साथ रहता था। उसके पास केवल एक ही नाग था जिसका नाम उसने 'हीरा' रख लिया था। यही उसकी कमाई का जरिया था।

हीरा नाग को सज्जनसिंह ने सिखा भी खूब लिया था। पुँगी संगीत के साथ वह सज्जनसिंह की उँगली पर नाच उठता, उसकी गर्दन पर लिपट जाता, उसकी झोली में बैठ जाता, दाताओं को सलाम करता और तरह-तरह के खेल दिखाया करता। अन्य सँपेरों के नागों की तरह वह केवल दूध ही नहीं पिया करता। इसी कारण से सज्जनसिंह और उसके नाग का नाम आसपास के गाँवों में फैल गया था।

सज्जनसिंह से वह नाग खूब हिल गया था। कई बार वह उसके बिस्तरे में घुस आता, उसी के साथ सो जाता। खाते समय थाली के

पास बैठ जाता और सज्जनसिंह हुक्का पीता तो वह उसकी गोद में बैठ जाता और जब वह उसे टोकनी में सो जाने के लिए हुक्म देता तो वह टोकनी में जाकर सो जाता। वह तो सज्जनसिंह की भाषा पूरी तरह समझता था। वह जैसा कहता ठीक वैसा ही करता था।

गाँव के लड़के सज्जनसिंह की झोपड़ी में आते डरते थे। पता नहीं हीरा नाग दरवाजे पर ही बैठा हो। हमेशा टोकनी में थोड़े बन्द रहता था। सज्जनसिंह ने उसे काफी स्वतन्त्रता दे रक्खी थी। सच पूछिये तो हीरा नाग सज्जनसिंह का प्राण था। वह उससे घंटों बातचीत किया करता। उसकी सेवा-चाकरी करता। उसे खिलाता, दूध पिलाता और वह सब करता जो एक पिता अपने इकलौते बेटे के लिए करता है। और यदि आप सज्जनसिंह से जानना चाहें तो वह तुरन्त कह देगा कि उसके लिए संसार में सबसे प्रिय उसका अपना हीरा नाग ही था।

नाग पंचमी तो सज्जनसिंह की कमाई का सबसे बड़ा दिन था। इसके अलावा साल भर में तीन मेलों में हो आता। फिर आसपास भरने वाले बाजारों में भी चक्कर लगा देता। इस तरह उसे खाने-पीने की अड़चन नहीं रहती। और फिर उसकी जरूरतें भी ऐसी कितनी थीं?

इन अवसरों को छोड़ कर सज्जनसिंह अपना सारा समय सुजानपुर के गरीब ग्रामीणों की सेवा में लगा देता था। नीम की तरह ही उसके गुण थे। बीमारों की वह मनोभाव से सच्ची सेवा करता और उन्हें अपनी बुद्धि के अनुसार जड़ी-बूटी की दवा भी देता था। गाँव में कोई भी दुखिया अपने को अकेला नहीं पाता; क्योंकि सज्जनसिंह सब का था। पीड़ितों की सेवा करने में, असहायों को सहायता पहुँचाने में, उसे आनन्द आता था।

इसलिए उसका गाँव में मान भी खूब था। अच्छे से अच्छे और बड़े से बड़े प्रश्नों पर उसकी सलाह पूँछी जाती। कोई विवाह के सम्बन्ध में उसकी सलाह लेता, कोई लगान के सम्बन्ध में। कोई उससे किसी रोग की चर्चा करता, कोई अपने पुत्र की शिक्षा की।

धर्म-कार्यों में भी सज्जनसिंह का मत वजन रखता था। यूँ कहिये, सज्जनसिंह का जीवन सुजानपुर की सेवा के लिए अर्पित था। फिर भला ऐसे व्यक्ति को कौन भूखों मरने दे? सभी उसकी इज्जत करते और उसे 'बाबा' के मधुर एवम् स्नेहमय नाम से पुकारते।

और वह बाबा जैसा लगता भी था। उसकी घनी और लम्बी डाढ़ी, फटा किन्तु ऊँचा साफ़ा, चिथड़ेदार किन्तु नीचा गेरुआ रंग का चोगा देखकर किसी के भी दिल में उसके प्रति आदर ही उत्पन्न होता। यथार्थ में वह सब का पिता था और सब उसके बेटे थे। उस इलाके में कौन था जो सज्जनसिंह और उसके नाग हीरा के चमत्कार को नहीं जानता था?

उस दिन नागपंचमी थी। सज्जनसिंह ने हीरा को नहलाया और दूध पिलाया। फिर धूप और ऊदबत्ती जला कर उसकी पूजा की। उस पर कुमकुम, अक्षत और फूल चढ़ाये। अपनी पुँगी साफ़ की और पटेल के घर जाने के लिए रवाना हुआ। क्योंकि पहले उसे वहीं जाना पड़ता था।

पटेल के आँगन में ग्रामीणों की ख़ूब भीड़ लगी हुई थी। उस दिन सज्जनसिंह की पुँगी में असाधारण माधुरी आ गयी थी, जिसके कारण हीरा नाग के साथ ही साथ सुनने वाले भी मस्तक डुलाने लगे थे। एक तरफ़ औरतें बैठी हुई थीं और उन्हीं के पीछे गाँव के लड़के बैठे हुए थे—उत्सुक और कुछ भयभीत।

सज्जनसिंह बीच में जाकर बैठ गया। लोग हट गये और आस-पास एक घेरा बना कर बैठ गये। उसने अपनी डाढ़ी पर हाथ फेरते हुए सब की तरफ़ देखा और फिर पुँगी निकाल कर हीरा को जगाया। वह दूध पीकर टोकनी में मस्त बैठा था।

दो-तीन आलापों में ही वह नाच उठा। पुँगी बजने लगी। उसमें क्षण-क्षण में मधुरता आने लगी और हीरा नाग में भी मादकता, मतवालापन आ गया। आसपास का वातावरण मुग्ध हो उठा जैसे किसी

ने जादू कर दिया हो। हीरा डोलने लगा और पटेल के आँगन में जमे हुए लोगों के सिर भी हिलने लगे।

पर भगवान जाने कैसे, सज्जनसिंह की उँगली एकाएक पुँगी पर से उचट गयी और सहसा उसमें से बेसुरा राग निकलने लगा। हीरा नाग भी एक दम स्तब्ध हो गया और देखते-देखते उसने सज्जनसिंह के हाथ पर अपना फन जोर से मारा। उसकी उँगली अपने दाँतों में पकड़ ली। हीरा ने सज्जनसिंह को काट लिया और काटते हुए वह उलट गया जिससे उसका विष सज्जनसिंह के शरीर में गहराई तक घुस जाय।

सज्जनसिंह की उँगली में से लोहू निकलने लगा। दूसरे हाथ से उसने हीरा को फिर से उसी घाव पर कटा दिया और अलग कर उसे नीचे पटक दिया। उसके मुँह से सिर्फ यही निकल पड़ा—"ओ हीरा, तूने जे का कर दओ रे ?"

इस वाक्य में कितनी गहरी वेदना भरी थी ! शारीरिक कष्ट की अपेक्षा उसे मानसिक कष्ट अधिक हो रहा था ! हीरा का विश्वासघात देख कर सारे उपस्थित लोगों में हाहाकार मच गया। बच्चे जोर-जोर से रोने लगे ! स्त्रियाँ सिसकने लगीं ! और पुरुष मूक वेदना में लीन हो स्तम्भित से रह गये ! बच्चे तो करुण स्वर से चिल्लाने लगे—"बाबा को नाग ने काट लओ रे।"

ग्रामीणों के दुख की कोई सीमा नहीं थी। सज्जनसिंह की मृत्यु की भावना तो उन्हें एक महान दैवी आपत्ति की तरह लगती थी। कोई कहने लगा—"भैया, साँप को दूध पिलाना तो धरम ने भी मना किया है।" तीसरा कहता—"बैरी का कोई भरोसा नहीं ! कब अपनी पर आ जाय ? कौन जाने ?" इत्यादि।

सज्जनसिंह हतबुद्ध सा नीचे बैठ गया। खीसे में से जड़ी निकाल कर लगाने की भी उसे सुध न रही। उसे अपनी मृत्यु निश्चित्-सी दीख रही थी। घाव को दूसरे हाथ की अंगुलियों से दबाये वह हीरा नाग

की तरफ़ देख रहा था। उसकी आँखें गीली हो गयी थीं—मृत्यु के भय से नहीं, विश्वासघात की चोट के कारण।

और हीरा नाग पड़ा था नीचे—हलकी लहरें ले रहा था। ईश्वर जाने उसे अपने अपराध की तीव्रता का भान था या नहीं।

ग्रामीणों को विश्वास हो गया कि सज्जनसिंह अब नहीं बच सकता। नाग जैसा जहरीला प्राणी यदि गहराई तक किसी को काट ले तो साक्षात् धन्वन्तरी भी उसे बचा नहीं सकता।

पर ज़रा आश्चर्य तो देखो! दो मिनट के बाद ही नाग का शरीर ज़ोर से फहराने लगा। ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जाता त्यों-त्यों उसकी छटपटाहट भीषणतर होती जाती। देखते-देखते, पाँच मिनट के अन्दर, अपनी पूँछ अन्तिम बार ज़ोर से पटक कर हीरा नाग ने अपने प्राण त्याग दिये।

और मज़ा यह कि हीरा के प्राण छूटने के बाद ही सज्जनसिंह का लोहू बहना बन्द हो गया और वह एक फुर्तीले तरुण की तरह खड़ा हो गया।

एक करुण सहानुभूतिसूचक निश्वास लेकर वह लगन के साथ हीरा की अन्तिम क्रिया करने की तैयारी करने लगा!

इस समय भी उसकी आंखों से आँसू निकल रहे थे।

मिट्ठू

एक दिन ताल की नीम पर बसेरा था। नील आकाश में उड़ा-उड़ा फिरता था। फलों का सुआ-कटेल करके गिराता था। कम खाता था। बहुत बिगाड़ता था। टें-टें ही मेरा राम नाम था।

आज इस विशाल हवेली के आँगन में अरगनी पर पींजड़ा लटक रहा है। उसी में बन्द हूँ। आसमान में मेरे साथी उड़ते चले जा रहे हैं। उन्हें टें-टें करते सुन मैं भी टें-टें करने लगता हूँ। क्षण भर को भूल जाता हूँ कि मैं लोह-पिंजर में बन्द हूँ। चुगने को भीगे चने और यदा-कदा फलों के टुकड़े। पीने को कुल्हिया में सड़ता हुआ पानी।

भगवान ने मुझे पक्षी बनाकर भी मेरी स्वतन्त्रता छीन ली। यह सब पाँचू की करामात है। इसकी नजर चील से भी तेज है। मैं अपने घोंसले से झाँक रहा था कि इसने मुझे देख पाया। बन्दर-सा पेड़ पर चढ़ गया और पकड़ कर मेरी यह गति कर दी। सच कहता हूँ मैं इस पाँचू को रोज कोसता हूँ।

मिट्ठू इस तरह गुदगुदा रहा था कि पाँचू के मास्टर साहब आँगन में हाजिर हुए। आवाज दी—'पाँचू चल पढ़ने।'

पाँचू हो तो बोले! कई बार पुकारा तो पाँचू की मा रसोई में से बोली—'मास्टर साहब, पाँचू मुँह धोकर सुबह से खेलने निकल गया है। कुछ नाश्ता भी करके नहीं गया। खाने का समय हो गया। अभी

तक नहीं आया। उनको अपने बही-खातों से फुरसत नहीं मिलती। लड़का सूख कर लकड़ी हुआ जाता है। जरा आप ही देख लाइये।'

विधूवा क्रोध से भुनभुनाते पीछे के बाग की ओर निकल गये। कोई था नहीं जो सुन ले, इसलिए जोरों से कहते जाते थे—"मैं इस पाजी का नौकर हूँ जो इसे खाने के लिए खोजता फिरूँ। आज मिल तो जाय; फिर देखो किसी न किसी बहाने से वह मार देता हूँ कि वह भी याद करेगा।'

पाँचू कच्चे बेरों पर ढेले फेंक रहा था। साथी लड़के बेर चुनते जाते थे। एक ढेला उसने ऐसा फेंका कि विधूआ को गंजी चाँद में छेद हो गया। खून बहने लगा।

मास्टर साहब को देखने ही लड़के भिन्न-भिन्न दिशाओं मे भाग गये। पाँचू क्षण भर सोचता रहा कि भागूँ या मास्टर साहब के पास जाऊँ। आखिर उसने घर की ओर एक दौड़ लगायी और मा के पास रसोई में घुस गया। वह जानता था कि रसोई में कोई बड़ा आदमी बिना नहाये नहीं जा कसता, इसलिए वह सुरक्षित है।

मा ने पूछा—'क्यों रे इतनी देर तक तू कहाँ था? न खाया न पिया। जा दो लोटे पानी बदन पर डाल आ। खाने को परसनी हूँ! ...लड़के की क्या शकल हो गयी है मैं तो पढ़ाना-लिखाना छुड़ाती हूँ। जब समझ आ जायगी तब आप ही पढ़ जायगा।'

पाँचू पकोड़ी खाता हुआ रसोई से नहाने निकला। विधूवा सिर पर धोती कसे सदर दरवाजे से आये। पाँचू के पिता नवल बाबू की नजर पड़ गयी। हँसकर पूछा—'मास्टर साहब बहुरूपिया कैसे बने फिरते हैं?'

विधूवा ने अपना क्रोध छिपाते हुए कहा—'कुछ नहीं,' पाँचू ने पत्थर फेंका था, धोखे से लग गया।'

विधूवा क्रमशः सारी कहानी कह गये। नवल बाबू पाँचू पर आग बगूला हो गये। हाथ में बेत लेकर चले आँगन की ओर। आँगन में

पाँचू को पकड़ पाया। एक के बाद दूसरा बेत पड़ने लगा। तोता दाएँ-बाएँ सिर हिलाता था और पाँचू का नृत्य देख रहा था। कह रहा था—'तुमने जो मुझे कैद में रखा उसकी सजा कैसी मिल रही है।'

पाँचू चीख रहा था—'अरे बाप रे! मैं मर गया! मुझे छोड़ दो।' मिट्ठू ने यह फ़िकरा सीख लिया था क्योंकि मार दो तीन दिन के अन्तर पर पड़ा ही करती थी और पाँचू यही चीखता रहता था। मिट्ठू ने भी अब यही टें-टें लगायी।

बेत की वर्षा बन्द हो गयी। पाँचू घंटों बैठा रोता रहा। मा रसोई छोड़कर मनाने आयी। पाँचू और भी मचल गया और उसने लातें मारना शुरू किया। नवल बाबू ने कमरे से निकल कर कहा—'तुम्हींने लड़के को बिगाड़ रखा है। न पढ़े न लिखे; सारे दिन इधर-उधर खेलता रहता है। हटो वहाँ से। चुपाने की कोई जरूरत नहीं। थक जायगा तो आपही चुप हो जायगा।"

मा रसोई में चली गयी। मिट्ठू वही फिकरा बीच-बीच में सुनता जाता था। एक बार सुनकर पाँचू झुँझला कर चुप हो गया। आखिर गुस्से में पिंजड़ा खोल दिया। मिट्ठू फुर से उड़ गया और आँगन के नीम पर जा बैठा।

पाँचू रोना भूल गया। वह हड़बड़ा कर मा के पास भागा। कहा—'मा' मिट्ठू उड़ गया! अभी नीम पर बैठा है। पकड़वा दे।'

किस नौकर का दम था कि उस लचीली नीम की फुनगी पर चढ़ कर तोते को पकड़ लाता!

मा ने बाहर आकर देखा। तोता कैसे उड़ा, समझ गयी।...पलटू से कहा—"तोते को पकड़ने का कुछ उपाय कर सकता है?"

उसने कहा—'मलकिन नीचे होता तो कपड़ा डालकर पकड़ सकता था। डाल बहुत पतली है वहाँ मेरा बस नहीं है।"

देखते ही देखते तोता बाग की ओर उड़ गया। पाँचू रो पड़ा। इस बार उसका रोना मर्मभेदी था। जिसके लिए वह कच्चे बेर तोड़ता

था, बेत खाता था, वही आज उड़ गया ! अब मानो उसको कुछ काम ही नहीं रहा !

पलटू ने गोद में लेना चाहा। पाँचू ने दो लातें फटकार दीं। मा ने कहा,—"तू चुप रहेगा तो मास्टर साहब सामगरी मेले से तोता ला देंगे।"

पाँचू ने रोते हुए कहा—"मास्टर साहब घर में आयें तो मैं उनका सिर तोड़ दूँगा। उनको मेरा मिठुआ नहीं सुहाता था। उन्होंने ही तो उड़वा दिया। मैं अब उनसे कभी नहीं पढ़ूँगा। हर्गिज नहीं पढ़ूँगा।"

इसी तरह से रोते-रोते पाँचू ने सारी दोपहरी काट दी। आखिर सो गया। धीरे से आकर मा ने बदन छुआ काफी गरम हो गया था। मा के होश उड़ गये !

नवल बाबू की भी अक्ल गुम हो गयी। पढ़ना-लिखना बन्द हो गया। मास्टर साहब को छुट्टी मिल गयी।

खाली पिंजड़ा बाँस ही पर झूल रहा था। उसकी खिड़की खुली की खुली थी। बन्द कोई किसलिए करता ?

मिट्ठू उड़ने को तो उड़ गया, पर वह किसके पास जाता। सकुटुम्बीगण दल के दल उड़ते चले गये, किसी ने उसकी ओर ताका भी नहीं। चील-कौओं ने चोंच की ठोकरों से खोपड़ी गंजी करना शुरू कर दी।

उड़ने का अभ्यास जाता रहा था। बहुत ऊँचा तथा दूर-दूर तक नहीं उड़ पाता था। उसने सोचा—'हे भगवन ! तूने मेरी मति क्यों फेर दी, जो मैं अपना वह सुख-राज्य छोड़ कर स्वातन्त्र्य-सुख लूटने की इच्छा से बाहर निकल आया ! मेरी गति उसी हिन्दू की तरह हुई जो एक बार ईसाई होकर फिर हिन्दू होने की इच्छा करता है। उसके भाई-बहन उसके हाथ का छुआ पानी भी नहीं पीते। उसे अस्पृश्य समझते हैं।'

'उसकी आँखें खुलती हैं। उसकी शान्ति नष्ट हो जाती है। कोई उसे नहीं अपनाता। प्रभु ईसा उसकी मानसिक गति समझते हैं और उसे पुनः अपनाने के लिए अपना द्वार खोल देते हैं। वह जब लौटता है तो द्वार खुला पाता है और अपना रहा-सहा जीवन प्रभु ईसा के आगार में सुख से बिताता है।'

'जिन्हें मैं अपना सोचता था अब वे सब बिराने हो गये। मेरे दुश्मन हो गये। मैं पाँचू को शापता था और वह मुझे सुस्वादु फल लाकर देता था। आप पीछे खाता था पहले मुझे दूध-भात रख जाता था। मुझे ऐसा कौन-सा कष्ट था जो मैं रटता था—'मुझे मारो मत, छोड़ दो'।

'मैं स्वतन्त्र हूँ पर मैं अकेला हूँ। मुझे कोई अपने साथ नहीं लेता। ऐसी स्वतन्त्रता किस काम की? मैं अपने पाँचू के पिंजड़े में रहूँगा—जीवन भर रहूँगा। ये कौए मुझे मारे डालते हैं।"

शाम हो चली थी। पंछी बसेरों में उड़े जा रहे थे। मिट्ठू जाकर आँगन के नीम पर बैठ गया। पलटू बैठा-बैठा बरतन मल रहा था। कभी-कभी खाली पिंजड़े की ओर देख लेता था और पाँचू के ज्वर का ख्याल करके एक छोटी सी गरम साँस भर लेता था।

मिट्ठू ने देखा पिंजड़े का द्वार खुला है। फुर्र से नीचे उड़ा और अपने पुराने बसेरे में पैठ गया।

पलटू ने पंख की आवाज़ सुनी। आँखें उठायीं। पिंजड़ा देखा। फिर फूला न समाया। मिट्टी में हाथ सने थे। धोती की खुटी खुसी थी। उसने निःशब्द दौड़ कर पिंजड़े की खिड़की बन्द कर दी। वहीं से चीखा—'पाँचू बाबू मिट्ठू आ गया।"

भीतर जाकर कहा। मा ने, नवल बाबू ने समझा, झूठ है। लेकिन नौकर की हुलिया देखकर विश्वास हुआ।

पाँचू ने कम्बल दूर फेंका। आँगन में भागा। पीछे-पीछे सभी गये। पाँचू की खुशी का ठिकाना न था! कभी मा की पीठ पर चढ़ जाता,

कभी बाप के हाथ पकड़कर उछलता ! तोता दाहने-बाएँ सिर हिलाकर उसका कौतुक देख रहा था !

सुबह के भीगे चने रखे थे। पलटू ने लाकर पाँचू बाबू के हाथ में दे दिये और कहा—'बाबू, इसे खिला दीजिये। बिचारा सुबह का भूखा होगा।"

पाँचू ने खिड़की खोलकर मिट्ठू की कुलिया चने से भर दी। भूखा मिट्ठू पाँचू के हाथ ही से चने खाने लगा।

कुछ देर पहले पाँचू का मुँह रोते-रोते लाल था ! इस समय खुशी से खिले गुलाब की तरह प्रफुल्लित हो गया !

घर के सब लोग अपने-अपने कार्य में व्यस्त हो गये।

पाँचू बरामदे में पिँजड़ा रखकर मिट्ठू के सिर, पर, पैर की परीक्षा करता रहा।

सन्देह

उस दिन मैं अपने बेटे मोहन से पूँछ रही थी—"तुझे किसने कहा ?"

मानो मैं अपने अपराध से पूँछ रही थी, कि तुझे किसने जन्म दिया ?

मानो मैं अपने अपमान से पूँछ रही थी कि तेरी जननी कौन ?

और मोहन बोला—"तू ही बता, आज रात तू कहाँ रही ?"

मोहन पर मैं नाराज हो उठी।

क्रोध हमारी क्षुद्रता की अन्तिम स्वीकृति है।

'मेरे रक्षण में रहकर, मुझपर ही सन्देह ? बेटा होकर माँ से ऐसा सवाल ? मेरी कठिनाइयों में, आँसू बहाने के बजाय, आते ही मुझपर प्रश्न का यह पत्थर ?'—यही मेरे इलजाम थे।

जिस तरह आक्रमण करने, आक्रमण से बचने, आक्रमण की भर्त्सना करने के समय हाथ ही हमारे अपनेपन का कृतियों में अनुवाद किया करते हैं, वैसे ही मानो आँसू हमारे मानस शरीर के हाथ हैं। आनन्द में उतावले से हाजिर! कष्ट में बावले से बाहर! हाथों की कृति, गुनहगार बनाकर अदालत ले जाती है। आँसुओं की दौड़, आँख वालों की आँख से गिरा देनी या आँखों पर चढ़ा देती है।

मोहन अभी तक केवल प्रश्न का उत्तर, कथा में बैठे हुए कथा सुनने वाले जिज्ञासु की तरह चाहता था। किन्तु जिस तरह समय से अधिक रखने पर सुगन्धित पके आमों में से दुर्गन्ध आने लगती है, मेरे उत्तर के विलम्ब में, मोहन कुछ ऐसा सा सूँघने लगा, जिसे सूँघकर, वह बरदाश्त करने को मानो तैयार न हो।

जिज्ञासु से अब वह, पुलिस का सिपाही हो गया। बोला—"यदि तूने नहीं बताया कि रात कहाँ रही, तो मैं नहीं कि तू नहीं।"

मैं दौड़ कर आयी थी, 'मोहन भूखा होगा,' यह सोचकर। परन्तु मोहन अपनी भूख को खा चुका था, और अब मानो मुझे खाने की तैयारी कर रहा था। मैं क्या करती।

जिस तरह धन के अभाव में, साहूकार को आया देख, मोहन के पिता, कुएँ में गिरने के लिए तैयार हो गये थे, और मैंने अपने सारे साहस से उन्हें पकड़ कर रोक लिया था; उसी तरह आज मैंने सम्पूर्ण साहस से अपनी बेचैनी को पकड़ लिया, उसे जबान पर नहीं आने दिया।

मेरी कहास! मेरा जवाब! मन में तूफान सा उठा। दाँतों में जरा पिसा। गालों पर छन भर तमका। और आँखों पर तरंगित हो आया। और टप! टप! टप!

जिस तरह बरतन का खौलता हुआ पानी एक दम बर्फीले पानी में डालने से बर्फ बन जाता है—मोहन अपने क्रोध में, मेरे प्रति रहने वाली करुणा ढूंढने लगा!

मेरा अपराध, इस समय, मोहन से भी अधिक बेक़ाबू होकर, मेरी ज़बान पर आ गया !

मैंने कहा—"मोहन !"

मोहन ने देखा, मैं मा से मानवी होने जा रही थी, और दानवी हो गयी हूँ। तो भी जिस तरह बोझीला होने पर भी दूकान पर दाम चुकाने वाला, अपना सामान उठाता ही है, मोहन ने आँखों में करुणा, स्वर में सन्देह और व्यवहार में रूखापन रखकर कहा—"हाँ।"

कि इतने ही में, रामगोपाल कान्स्टेबिल आगया बोला—'क्यों रमिया ! चीफ़ साहब ने तो तुझे ४ घंटे ही की छुट्टी दी थी। चल, चार घंटे हो चुके !"

मोहन ने पूछा—'क्यों ?"

रामगोपाल एक तो थानेदार की आज्ञा समझता था। दूसरे तरुण मोहन को अपने सामने तुच्छ समझता था। तीसरे पुलिस के सिपाही होने का अधिकार-मद उसकी आँखों पर चढ़ा हुआ था। बोला - "क्यों ? क्यों का पता चलेगा जब हाथों में हथकड़ियाँ पड़ जायँगी !"

चाहे जेल से बदतर, और भूख और दुःखों में जिन्दगी भले बिता दें; किन्तु ग्रामीण हथकड़ी का नाम सुनकर काँपते हैं बैल लड़ाई में अपने से बड़े बैल को पछाड़ दे, किन्तु गाड़ी वाले की हाँकने के घुमाव मात्र से गाड़ी घसीटता भागा-भागा फिरता है !

हथकड़ी का नाम सुनकर मोहन सहमा !

मोहन को डरते देख कर रामगोपाल का पशु, बाहर निकल आया। उसने रमिया को एक झटका दिया और उसे घसीट कर सड़क पर खींच लिया।

दिन का चौथा पहर खतम हो रहा था। पक्षी घोंसलों की ओर जा रहे थे। अनहोनी नदी का कलकल जन-रव बन्द होने से साफ़ सुनायी देने लगा था। पशु-धन घर को लौट रहा था। तारे इस तरह धीरे-धीरे चमका चाहते थे जैसे किसी सभा में धीरे-धीरे आदमी जमा होते हैं।

और रमिया अपने घर से माल गुजार की चौपाल की ओर चली जा रही थी ।

रूप उसका अपराध था। तरुणाई उसका काँटा था जो हर साँस के साथ खटकता था; और साँस की तेज़ी के साथ खटक में इतना दर्द बढ़ा देता था कि साँस शरीर के बाहर जाकर उस क़ीमत पर लौटने को राज़ी न होती थी। और वैधव्य मानो उसके लावारिस होने का प्रमाण-पत्र था—शास्त्रों से प्रमाणित, धर्म से संचित और गंगाजल से धुला हुआ !

मोहन अब अपने से प्रश्न कर उठा—'मा से सवाल पूँछे तूने यह बिना जाने कि वह किस कष्ट में है ? और यह बिना सोचे कि वह मा है ?

वह चला। पीछे-पीछे ! धीरे-धीरे !

जब रमिया के पास रूप और तारुण्य था और वह ग़रीब थी, तब जयराम पटेल के यहाँ चोरी तो होने ही को थी। और रमिया का देवर, मुल्लू गवाही में तो मिलने को ही था !

रमिया पटेल के यहाँ पहुँच गयी। थानेदार अलीमुल्ला पलंग पर बैठे थे। इन्होंने इशारा किया और रमिया एक कोठरी में पहुँचा दी गयी।

शौकीन लोग कहा करते हैं कि प्रेम जीभ से नहीं बोलता; किन्तु पीड़ित जानता है कि उसके जीभ नहीं हुआ करती।

रमिया ने अपराध स्वीकार कर लिया। उसने चोरी की है।

प्रेम की भाषा बिना बोले समझ में आती है। चाहे वह मा-बेटे का हो; चाहे प्रेमी प्रेयसी का।

मोहन ने जब यह जाना, तब पहले तो वह ऊबा; ऐसे जैसे जीवन में कोई जोर की गाँठ लगायी हो, और खुल न रही हो। किन्तु फिर ऐसे सँभल गया, मानो चढ़े बुखार में किसी दवा से पसीना आ गया हो।

उसने कहा—"अपराध न करके भी अपराध मान लेने का आज दिन है।"

रात का वक्त। रमिया आगे-आगे। चीफ़ साहब का घोड़ा पीछे-पीछे।

औरतों को हथकड़ी लगाना मना है।

जो जंगल दिन में घना, सुहावना, हरियाला, रंगीन छायादार फलवान, प्यारा मालूम होता था, रात में कितना भयंकर !

परन्तु रमिया का भय वृक्षों में नहीं; घोड़े पर चढ़ा चला आ रहा था !

और मोहन एक फर्लांग दूर था ! पीछे-पीछे !

मानों छाया आगे थी, व्यक्ति पीछे था। माया नेता थी, ब्रह्म अनुगामी था।

घोड़े की टिक-टिक की ज़रूरत न थी। कान्स्टेबिल मील भर आगे जा रहा था।

रात चल रही थी। तारे चल रहे थे। साँस चल रही थी।

हाँ अभागा 'रास्ता', इन पाँच प्राणियों को छोड़कर मानों बन्द हो गया था !

थानेदार घोड़े से उतरा। रमिया को हुक्म हुआ—!

चाँद हँस रहा था ! तारे चमक रहे थे। वृक्ष वायु में सनसना रहे थे।

क्या ये परीक्षक थे ? ग़रीब मानवता को दिये गये प्रश्न-पत्र का उत्तर सुनने में क्रूर, और उतावले !

थानेदार आगे बढ़ा। और रमिया। रमिया कड़क उठी—"ख़बरदार !"

वह थानेदार था। उसके पास घोड़ा था। घोड़े का हन्टर था। सरकार से पाया हुआ अधिकार था। १२५ रुपया वेतन मिलता था। बाजुओं में बल था। और दिल में काला साँप जाग उठा था।

यह किसे खायगा ?

मोहन राह भूल गया।

अँधेरा था। रमिया ने ऊपर देखा। नीचे देखा। और दाँए-बाँए देखा ! यहाँ कहाँ सहायता ?

चीफ़ साहब का साँप फुंकार उठा। रमिया ने फिर ऊपर देखा और झपट पड़ी। वह कुश्ती लड़ रही थी।

तारे थे। चाँद था। हवा थी। झाड़ थे।

मोहन राह भूल गया था।

रमिया ने कुश्ती में चीफ़ साहब को पछाड़ा। वह दाँतों से नोचने लगी।

चीफ़ साहब ने हन्टर उठाया। रमिया घायल हो गयी।

चीफ़ साहब ने नाड़ी देखी। रमिया के प्राण पखेरू उड़ गये थे।

अब मोहन आ गया।

देर होती देख रामगोपाल कान्स्टेबिल लौट आया था।

मोहन गिरफ़्तार कर लिया गया। हथकड़ियाँ डाल दी गयीं।

सेशन्स जज की अदालत से रमिया की हत्या के कारण मोहन को फाँसी की सज़ा हो गयी।

आज फाँसी वाली रात है। मोहन पर पहरा है। जेल की तंग कोठरी है।

अभी भी सीख़चों से झाँककर उसने देखा। रात चल रही है। झाड़ हिल रहे हैं।

और मोहन अपने से पूँछता है—"मा से पूछे हुए उस दिन के प्रश्न का जवाब अभागे मोहन, आज तुझे सूली देगी।"

———

पंडितजी

जिस समय पंडितजी बैठते, उस समय यही मालूम होता कि मुगल बादशाहों के ज़माने का एक भारी उगालदान उलटाकर रख दिया गया है। उनकी भारी पेटी, धीरे-धीरे ऊपर की ओर पतला होता हुआ बदन, छाती की गोलाई और सबसे बढ़ कर कटोरीदार चाँद—सब उलटे उगालदान के आकार की याद दिलाते थे।

थे भी पंडित जी किसी उगालदान से कम नहीं, जहाँ बैठते, वहाँ थूक का ढेर लगा देते थे।

शरीर के समान पंडितजी. का नाम भी बेढब था, 'घरघूमन'! मालूम नहीं. क्या सोचकर मा-बाप ने उन्हें यह नाम दिया था। क्योंकि न तो उनका घर ही 'कोरिन्थियन थियेटर' के स्टेज की तरह घूमता था, और न वही मोटाई के मारे घर-घर घूम सकते थे! तिथि-त्योहारों के अतिरिक्त अपने स्थान से उठते भी उन्हें लोगों ने कभी न देखा था।

काठ के एक खूब मोटे तख्ते पर, पंडित जी ध्रुव की तरह अचल बैठे रहते, अन्य तारों की तरह सारा गाँव उनकी परिक्रमा करता था। गाँव में ऐसा कोई घर न था, जिसके लोग पंडित जी के घर 'घूमने' न आते हों। शायद इसीलिए उनका नाम घरघूमन था।

कुछ भी हो उनका नाम घरघूमन ही था; पर लोग उनके डील-डौल के कारण उन्हें 'थलथल पंडित' कहा करते थे। हालाँकि कुछ नटखटी-लड़कों को छोड़कर पडित जी के सामने उनका यह नाम कोई जबान पर न लाता था। उनके मुँह पर उनका नाम था 'पंडिज्जी महराज'।

पंडित घरघूमन पाँडे यद्यपि भारी-भरकम होने के कारण बहुत चल फिर न सकते थे, पर इससे काम में कोई हर्ज न होता। शादी वगैरह बड़े कामों को छोड़कर, बाक़ी छोटे-मोटे काम लोग पंडित जी के घर ही पर आकर करवा लेते थे। यहाँ तक कि कभी-कभी जनेऊ का मंडप भी पंडितजी के मकान पर ही गड़ता, और लड़के का बाप सम्बन्धियों-समेत आकर 'पंडिज्जी महराज, से अपने पुत्र को गुरु-दीक्षा दिलाता।

बाहर न आने-जाने के कारण पंडितजी अपनी मोटाई कभी न बतलाते थे। मोटेपन का तो ज़िक्र उठाते उन्हें कभी किसी ने न सुना। मानो वह अपने हाथी-डील-डौल पर सोच ही न सकते हों। जैसे एक 'बेंत-छाप' आदमी अपनी मोटाई के बारे में सोच नहीं सकता!

पंडितजी का कहना था कि उनके पूजा-पाठ में विघ्न पड़ता है, इसलिए वह बाहर नहीं जाते। जब कोई यजमान किसी काम के लिए पंडितजी को बुलाने आता, तो आप फ़ौरन फ़रमाते—"देखो भाई तुम्हारे यहाँ जाने-आने में मेरा बहुत सा समय नष्ट हो जायगा। उतने काल में मैं, 'विष्णु-सहस्रनाम' के दो पाठ कर लूगा। क्यों व्यर्थ ईश्वर-भजन में बाधा देकर पाप मोल लोगे। तुम पूजा की सब सामग्री यहीं मँगवा लो, मैं पूजा करा देता हूँ। जो फल तुम्हें वहाँ मिलेगा, सो यहाँ। शायद यहाँ कुछ ज्यादा मिल जाय।"

यजमान भक्ति से तिलमिला उठता। तुरन्त सब सामान मँगवाकर 'पाप-कर्म' से मुक्ति ले लेता। पंडितजी की इस 'सार्वभौमिकता' का एक कारण यह भी था कि उस गाँव में दूसरा कोई पंडित न था, और आस-पास के गाँव दूर-दूर थे। इसलिए घरघूमनजी के यहाँ कभी यज-मानों का टोटा न रहता।

इसके अतिरिक्त आमदनी के और भी ज़रिये थे। क्योंकि मोटे पंडित मोटी लोमड़ी की तरह मोटे चालाक थे। अपनी चालाकी से भी वह कुछ-न-कुछ लोगों से झटक भागते थे। एक बार का हाल सुनिये।

एक दिन एक यजमान 'गणेश-पूजन' की आज्ञा ले पंडितजी के यहाँ उसका सामान ले आया। सामान रखकर वह चला गया, और कह गया कि स्नान करके आता हूँ। पर कुछ देर बाद ही लौटकर वह पूजा-सामग्री में से कुछ उठा ले गया।

पंडितजी ने देखकर भी उसपर ध्यान न दिया। कुछ देर बाद यजमान फिर आया, और पूजा की थाली उठा ले जाने लगा। अब पंडित जी के कान खड़े हुए। फौरन माला बन्द कर बोले—"क्यों, कहाँ ले जा रहे हो ?"

यजमान बोला—"महाराज, घर पर ही सब ठीक हो गया है। मेरे मामा के गाँव के एक पंडित आ गये हैं। उनसे पूजा करवा लूँगा। मैंने कहा, क्यों आपके पूजा-पाठ मे विघ्न डालूँ।"

पंडितजी ने सुना तो आपे के बाहर हो गये। बदन में आग लग गयी ! शिकार हाथ से निकला जा रहा था। बमक कर उलटा उगालदान ऊपर उचका दिया (यानी खाड़े हो गये)। अगर तख्त मजबूत और ऐसी बेतकल्लुफी का आदी न होता, तो जरूर टूट जाता।

मोटाई के मारे हाँफते हुए बोले—"हुँह ! तुम मेरा अपमान कर रहे हो ! ब्राह्मण का अपमान ! ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए ब्राह्मण का अपमान !! एक सच्चे ब्राह्मण का अपमान !!!

दरअसल पंडितजी ने 'ब्राह्मन' कहा था, ख़ूबसूरती के लिए हमने 'ब्राह्मण' लिखा है।

हाँ, तो पंडितजी कहते गये—'मैं तुम्हें शाप (शराप) दूँगा। तुम्हारा सारा घर नष्ट हो जायगा।' थलथलजी का हाँफना थलथल हो चला।

यजमान की तो सिट्टी-पिट्टी भूल गयी। हाथ से पूजा की थाली फ़र्श पर गिर पड़ी ! अक्षत, चन्दन, फूल, पान, इत्यादि यहाँ-वहाँ बिखर गये। सुपारियाँ पंडितजी की चरण-वन्दना करने चल पड़ीं !

लेकिन पंडितजी का पारा पार कर गया था। चिल्लाकर बोले—"ब्राह्मण (ब्राह्मन) का अपमान किया है ! नीच, सच्चे ब्राह्मण

(ब्राह्मन) का। ले !" कहकर 'शराप' देने के लिए पानी का लोटा उठाने लगे।

यजमान का रहा-सहा माद्दा भी पानी हो गया। चट पंडितजी के पैरों पर गिर पड़ा। उनने पैरों को इस तरह छाती से चिपका लिया, जैसे मा बच्चे को चिपका लेती है।

गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"क्षमा करो पंडितजी महराज, क्षमा करो। मैंने कभी इस विचार से काम न किया था। सिर्फ आपको कष्ट न हो, इसलिए ऐसा कर रहा था। यदि आप नाराज़ होते हैं, तो उस पंडित को अभी मार भगाता हूँ। दया कीजिये पंडिज्जी महराज, शाप मत दीजिये। आप महात्मा हैं। भगवान के भारी भक्त हैं। आपका शाप लग जायगा। मर जाऊँगा। दया कीजिये। भगवन्, दया कीजिये।"

अपनी महिमा-गान सुन पंडितजी मन-ही-मन धुनी कपास की तरह फूल उठे। पर ऊपर से उसी तरह ठंडी भाड़ दी—मानो शाप के डर से दया भी उनके पास न फटक सकती थी। बफरते हुए बोले—"अपराध बहुत भारी है। क्षमा नहीं हो सकता।"

सारे संसार की दीनता उस यजमान पर टूट पड़ी। खूब गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"नहीं पंडिज्जी महराज, अनजानते का अपराध है। क्षमा कर दीजिये। जो प्रायश्चित्त कहिये, सो करने को दास तैयार है।"

अन्त में, बड़ी सिरधुन के बाद, एक गोदान का प्रायश्चित्त पंडितजी ने कोई पोथी खोलकर बतला दिया। ग़रीब यजमान के गोदान का सवा रुपया उनकी जेब के हवाले हुआ। पूजा में जो नोचा-खसोटा, सो अलग।

इस प्रकार और-और कई ढंगों से पंडितजी की 'ऊपरी आमदनी' हुआ करती थी।

ऐसी धाक तो उनकी बाहर थी।

दरअसल थलथल पंडित कितना ज्ञान रखते थे, इसकी थाह कोई न पा सकता था। ज्यों ही कोई कुछ कहता, चट पंडितजी संस्कृत में

बोल उठते। शुद्ध-अशुद्ध देहाती जानते न थे, और मतलब उसका पंडितजी समयानुकूल लगाकर समझा देते थे। कभी-कभी तो एक ही श्लोक के तीन-तीन प्रकार के मतलब तीन अवसरों के अनुसार लोगों ने पंडित घरघूमन को लगाते सुना था। लोग उन्हें चारों वेदों का ज्ञाता और दिग्गज पंडित मानते थे।

पर इसमें कोई शक नहीं कि घरघूमनजी का उच्चारण बहुत अधिक अशुद्ध था। 'सत्यनारायण' को 'सत्तनरायन' कहते, और पूजा के आदि का श्लोक तो अपनी दुर्गति देख रो उठता। पंडित जी कहते, "गनानां त्वा गरूड़पति ओम् हवा महे" इत्यादि।

शायद ये अशुद्धियाँ मोटाई के कारण होती हों। पर हिन्दी शब्द वह काफ़ी साफ़ बोलते थे। हो सकता है, हिन्दी भाषा में ताजगी और जवानी होने के कारण मोटापन अपना असर न जमा सकता हो। हमारा तो मत यह है कि देव वाणी संस्कृत के शब्द किसी पुरानी खंखाड़ बुढ़िया की तरह पंडित जी के मुँह-रूपी घर से निकलते झिझकते थे। इसी लिए उनका उच्चारण बिगड़ जाता था।

खैर, यथार्थ ज्ञान कितना भी हो, पंडित जी की धाक उस गाँव में सब पर थी। भारी पंडित थे, ईश्वर-भक्त थे, महात्मा थे, शाप दे सकते थे! धाक क्यों न होती? गाँव में जिसके यहाँ से जो चाहते, सो मँगवा लेते। कोई नहीं न कर सकता था। लोग स्वयम् पंडितजी को प्रसन्न करने और उनके शाप के बम से बचने के लिए उनके यहाँ 'डालियाँ' भेजते थे, जैसे हम और आप जिले के हाकिम के यहाँ भेजते हैं। इतना आदर और डर पंडितजी का था!

शरीर और नाम की तरह पंडितजी का स्वभाव भी बेढब था। एक दिन उन्होंने एक आदमी से कहा—"जा तो रे, उस भड़भूंजे से थोड़ी लकड़ियाँ माँग ला। आज घर में लकड़ियाँ नहीं हैं। सूरज नहाकर आता होगा, रोटी कैसे बनायेगा?"

सूरज एक ब्राह्मण का लड़का था, जो पंडित जी का नया शिष्य तथा पुराना पाचक था।

आदमी चला गया पर कुछ देर बाद खाली हाथ लौट आया। उस समय पंडितजी पूजा कर रहे थे। आँख की कोर से उन्होंने उसे खाली हाथ लौटते देख लिया। 'जाप' करते-करते बोले—"क्यों तुझसे कहा था न भड़भूँजे से लड़की माँग ला।"

कहना चाहते थे 'लकड़ी', पर ध्यान पूजा पर होने के कारण मुँह से 'लड़की' निकल गया।

आदमी ने उनकी ग़लती ठीक करते हुए कहा—"महाराज, आपने लड़की नहीं, लकड़ी के लिए कहा था, सो उसके यहाँ अभी नहीं है। कहता था, थोड़ी देर में लाकर स्वयम् रख जाऊँगा।"

पंडितजी का स्वभाव था कि अपनी बात किसी को काटने नहीं देते थे। वह जो कुछ कहते, वह मानो ब्रह्मा की लकीर थी, जो काटी या मेटी न जा सकती थी। उनमें यह गुण था कि जो मुँह से निकल जाता, उसका समर्थन अन्त तक करते थे, चाहे वह ग़लत ही क्यों न हो। यदि आम को इमली कह बैठते, तो जान जाते फिर कभी उसे आम न मानते। हर तरह के तर्क से उसे इमली ही सिद्ध करते थे।

उस आदमी की बात सुन बिगड़ पड़े। बोले—"झूठा कहीं का! मैंने लड़की कहा था। तूने ग़लती से लकड़ी सुन लिया होगा। कान की दवा करा। मुझे झूठा बनाता है!"

आदमी को पूरा विश्वास था कि कुत्ते के कानों की तरह उसके कान धोखा नहीं खा सकते थे। यह भी निश्चय था कि पंडितजी ने लकड़ी के लिए कहा था। बोला—"नहीं महाराज, मैं आपको झूठा नहीं बताता। पर क्षमा कीजिये, आपने लकड़ी के लिए ही कहा था।"

सुनते ही पंडितजी का गुस्सा जंगली भैंसे की तरह बिगड़ खड़ा हुआ। हाँफते हुए बोले—"चुप चांडाल कहीं का। लड़की को लकड़ी

बनाये देता है ! 'पानिनी' महाराज होते, तो तेरा खून पी जाते। इतनी भारी ग़लती ! और उस पर मुझे झूठा सिद्ध करना चाहता है ! खुद कामचोर वहाँ तक गया नहीं। कहता है आपने लड़की के लिए नहीं कहा। फिर क्या तेरे सिर के लिए कहा था ? रे दुष्ट ! लकड़ियाँ मगा-कर क्या घर में मुझे आग लगानी थी ? घर तो वैसे ही लकड़ी से भरा है, और लकड़ी क्या करता ?

उस आदमी ने देखा बात बिगड़ गयी। चट हाथ जोड़ कर बोला—"धर्मावतार, आप ठीक कहते हैं। मैं कुछ ऊँचा सुनता हूँ। इसलिए ग़लत समझ गया था। क्षमा कीजिये दीनानाथ, अभी लड़की लाये देता हूँ।"

यह कहकर, जब तक पंडितजी कुछ कहें या उसे रोकें, वह बाहर निकल गया, और दूसरे क्षण एक मैली-कुचैली बारह साल की लड़की को लाकर पंडितजी के आँगन में खड़ा कर दिया। बोला—"महाराज, भड़भूँजे की लड़की माँग लाया। यह है, लीजिये।"

अब लड़की का पंडितजी क्या करते ? पर वह चूकनेवाले असामी न थे। झट पूजा के लिए थोड़ा स्थान उससे लिपवा मारा। उस दिन पाचक सूरज को रसोई बनाने में जो कष्ट हुआ, वह वही बेचारा कह सकता है।

पंडित घरघूमन पाँडे की उम्र के बारे में बड़े-बड़े मन्तव्य थे। जितने मुँह थे उतनी ही बातें थीं। कोई उनकी उम्र ठीक-ठीक न बतला सकता था। स्वयम् पंडित जी शायद अपनी जन्म-तिथि भूल गये थे। क्योंकि वह कोई निश्चित उत्तर न दे सकते थे। जैसा समय देखते, वैसा जवाब देते।

एक दिन कुछ मनुष्यों में उनकी उम्र पर बहस उठ खड़ी हुई। एक ने कहा—"थलथल पंडित और नहीं, तो कम-से-कम साठ साल के तो हैं।"

दूसरा बात काटकर बोल उठा—"नहीं जी, कहाँ की बात करते हो साठ साल का आदमी ऐसा नहीं होता। न एक भी बाल सफेद,

न चेहरे पर झुर्रियाँ । मुझे तो पंडित तीस साल से ज्यादा का नहीं मालूम होता ।"

तीसरे ने कहा—"भाई, मैं तुम्हारी बात नहीं मान सकता । तीस साल से मैं खुद देख रहा हूँ कि थलथल महाराज ज्यों-के-त्यों हैं । सिर्फ मूछों में कुछ तरक्की हुई है, नहीं तो तीस साल पहले मेरे बचपन में जैसे मुझे देख पड़ते थे, वैसे अब भी मालूम होते हैं । जैसे एक ही जगह पर 'मार्क टाइम' कर रहे हों । मैं सोचता हूँ, उसकी उम्र बहुत ज्यादा है, पर देवी के वरदान से कम-उम्र मालूम होते हैं । कम-से-कम सत्तर वर्ष के तो होंगे ।"

चौथा कुछ बुद्धिमान था । बोला—"मैं तो उन्हें चालीस और पचास के बीच में आँकता हूँ । मेरे विचार से उनके बाल इसलिए सफेद नहीं हुए कि वह मुफ़्ती माल खाते हैं । चेहरे पर झुर्रियाँ मोटे-पन के मारे नहीं पड़ीं । लेकिन बहस से क्या फ़ायदा, चलकर पंडितजी से ही न पूछ लो ।"

सब को यह बात जँच गयी । लिये-दिये पंडित जी के पास जा धमके ।

प्रश्न सुन कर पंडित जी मुस्कराये । बोले—"अच्छा तो तुम लोग मेरी आज उम्र नापने आये हो ?"

फिर पहले की ओर देख कर पूछा—"तुम कितनी सोचते हो ?"

उसने कहा—"कम-से-कम साठ साल ।"

दूसरे से पूछा—"और तुम ?"

उसने कहा—"तीस साल ।"

तीसरा बोला—"मैं बहुत बरसों से आपको ऐसा ही देख रहा हूँ । मुझे तो आप सत्तर साल के मालूम होते हैं ।"

चौथे ने कहा—"पैंतालीस ।"

पंडित जी ने कहा—"अच्छा चारों संख्याओं को जोड़ दो ।"

एक ने बड़ी देर तक बड़बड़ा कर कहा—"दो सौ पाँच ।"

"उसमें चार का भाग दे दो। कितना आया ?"

हिसाबिये ने कहा—"५१ साल ३ महीने।"

पंडित जी ने मुस्करा कर सिर हिलाते हुए कहा—"बस, यही मेरी उम्र है।"

पता नहीं, पूछने वालों का समाधान हुआ या नहीं। पर वे सब बिना कुछ कहे उठ गये थे, यह हमें मालूम है।

एक ताज्जुब की बात पंडित घरघूमन में यह थी कि उनकी खुराक शरीर जैसी मोटी न थी। थोड़ा ही खाते थे। बदन देख कर तो कहना पड़ता था कि इन्हें कम से कम नौ सेर गालिब सुबह और नौ सेर शाम को चाहिए। पर पंडित जी का काम एक तिहाई से ही चल जाता था। लोगों को आश्चर्य होता था कि इतना सूक्ष्म आहार खाकर वह जिन्दा कैसे रह सकते हैं!

कुछ भी हो, पर पंडित जी थे बड़े धार्मिक। कभी किसी गर्भवती स्त्री का मुँह न देखते थे! यदि धोखे से कभी सामने पड़ जाते, तो उस पाप का कठोर प्रायश्चित करते थे। उनके बाहर न जाने-आने का एक यह कारण भी था।

एक दिन सुबह कहीं जाने के लिए बेचारे काँख-कूँख कर और आड़े-तिरछे होकर चौखट के बाहर निकले बरसाती मेढक की तरह फुदक-फुदक कर एक ओर चल पड़े।

अभी कुछ दूर ही गये थे कि सामने से एक स्त्री सिर पर पानी से भरा घड़ा रक्खे आती दिखायी दी। इस शुभ शकुन को देख पंडितजी भावी लाभ सोच कर मन ही मन प्रसन्नता से पिघल उठे। पर दूसरे क्षण ज्योंही उन्होंने गौर से देखा, तो उनकी प्रसन्नता भाग खड़ी हुई, जैसे बिल्ली को देख कर चूहा फ़रार हो जाता है।

स्त्री गर्भवती थी। पंडित जी बड़े हताश हुए। घड़े का शकुन इस अपशकुन के आगे कोई क़ीमत न रखता था, जैसे हाकिम के होते

चपरासी के वचन का कोई मूल्य नहीं। बेचारे अनमने हो और बड़ी कठिनाई से उलटे घूम कर वापिस चल पड़े।

इसी समय उस ओर से एक गर्भिणी तालाब से नहाकर आती दिखायी दी। पंडित जी खीझ उठे। यदि कोई तीसरा रास्ता होता और पंडित जी भाग सकते, तो निश्चय जानिये, वह हवा हो जाते। पर लाचार थे, कहाँ जायँ। आखिर दोनों हाथों से मुँह ढाँप कर और गली के एक किनारे की ओर घूम कर एक छोटे पहाड़ की तरह वहीं बैठ गये।

शहर की अपेक्षा गाँव की स्त्रियाँ शायद अधिक लज्जाशीला होती हैं। घड़े वाली ने पंडित जी को बैठते देखा, तो समझी, पेशाब करने बैठे हैं। वह बेचारी मुँह फेर वहीं खड़ी हो गयी। लज्जा के जो भाव थे, सो तो थे ही, साथ ही लाचारी के भाव भी अवश्य मिले हुए थे।

गाँव की तंग गली का अधिक हिस्सा उनके नीचे दब गया था। जितना रास्ता बचा था, उसमें से भरा घड़ा लिये निकल जाना सरल न न था। इसीलिए बेचारी को खड़ा होना ही पड़ा।

खैर, घड़े वाली खड़ी हो गयी। सोचा, पंडित जी उठें, तो जाऊँ। नहाकर आने वाली स्त्री ने घड़े वाली को ठहरते देखा, तो वह भी उसी आशय से पीठ देकर खड़ी हो गयी।

लगभग दस मिनट तक पंडित जी आँखें बन्द किये बैठे रहे। उन्होंने सोचा, अब तक वे देवियाँ निकल गयी होंगी। मुँह पर से हाथ हटा कर उठने लगे, तो घड़े वाली पर नज़र पड़ गयी। 'हत्तेरे की' कह कर फिर दबक रहे।

खड़े-खड़े घड़े वाली की गर्दन दर्द करने लगी। उसने घबरा कर पंडित जी की ओर कनखियों से देखा, तो भरे बोरे की तरह वह वहीं धरे हुए थे। उसे कुछ शक हुआ। उसने उस दूसरी स्त्री की ओर देखा तो वह भी सशंकित दृष्टि से पंडित जी को निहार रही थी। दोनों की आँखें चार हुईं। दोनों घूम कर पंडित जी की ओर चल पड़ीं।

घड़े वाली ने पास पहुँच कर धीमे स्वर में पुकारा—"पंडित जी महाराज !"

घड़े वाली ने अपनी संगिनी की ओर देख कर दबी ज़बान से कहा—"ग़श खा गये क्या ?" दूसरी स्त्री किसी घर की बहू थी। मुँह से न बोली, शंकित नेत्रों से सिर हिला कर उसने उसके प्रश्न का उत्तर दिया। घड़े वाली ने कहा—"जल्दी जा, घर में बोल।" और दोनों झपटती हुई अपने घरों की ओर भागीं।

दूसरे ही क्षण गाँव-भर में कोहराम मच गया कि थलथल पंडित कहीं जा रहे थे कि ग़श खा गये ! रास्ते में पड़े हैं। जो लोग 'ग़श खाने' का अर्थ नहीं समझते थे, उन्होंने बेपरवाही से कहा—"तो क्या हुआ भूखे होंगे, गश खा लिया होगा। इसमें शोर करने की कौन सी बात है।" जो समझदार थे, वे अपना काम छोड़ बताये हुए स्थान पर इस तरह टूट पड़े, जैसे टिड्डी दल धान के खेत पर टूटता है।

पर पंडित जी वहाँ कहाँ थे ? वह तो स्त्रियों के हटते ही जी छोड़ कर घर की ओर भाग खड़े हुए थे। जो लोग अब भी 'ग़श खाने' का मतलब न समझे थे, सिर्फ़ इसलिए दौड़ पड़े थे कि देखें, दूसरे लोग क्यों भागे जा रहे हैं, उन्होंने मुँह बना कर कहा—"खाकर भाग गया देखो। कहा था न, क्यों व्यर्थ परेशान होते हो।"

उस दिन प्रायश्चित में पंडित जी चौबीस घंटे का उपवास ठोंक दिया।

शायद इसी डर से पंडित जी ने अपना विवाह नहीं किया था।

पंडित जी के गुण-गान से गद्गद् हो उनके कपड़ों के बारे में कुछ कहना हम भूले जा रहे हैं। पंडित जी जब घर में रहते, तब बदन के सारे झरोखे और खिड़कियाँ खोल कर बैठते थे, अर्थात् नंगे बदन रहते थे। जब बाहर निकलते तब एक अचकन पहनते थे, जो पूरी तौर से 'चपकन' थी। ऐसी चिपक कर बैठती थी कि उँगली डालने की सद भी न रहती ! यहाँ तक कि अचकन के अन्दर से जब थलथल

जी को जनेऊ निकालना पड़ता, तो पसीने की दो बूँदें उनके माथे पर झलक पड़तीं!

सारांश यह कि उनका अंगा बहुत चुस्त था। मालूम नहीं, कितनी कठिनाई से पंडित जी उसे पहनते थे, और उतारते वक्त तो राम! राम! हाथी को सुनार की पोंगरी में से निकलना पड़ता था! इस पहनने-उतारने के डर के मारे भी पंडित जी का बाहर जाना-आना सीमित हो गया था।

अंगे की तंगी का पूरा-पूरा बयान करना तो हमारी ताक़त के बाहर की बात है। आप इतने से ही समझ जाइये कि एक बार अपने दुर्भाग्य से एक कीड़ा पंडित जी की अचकन के अन्दर घुस गया। जब पंडितजी ने कपड़े उतारे, तब कीड़े के स्थान पर थोड़ी धूल मिली।

पर यह बात हरगिज़ न थी कि उनके कपड़े पुराने होने के कारण तंग होते थे। उनके लिए नये-पुराने सब कपड़े भी उनका आकार देख कर डर के मारे सिकुड़ जाते थे, या शायद दर्ज़ी हमेशा नाप भूल जाता था. या पंडित जी का शरीर ही शायद दोज के चाँद की तरह दिन दिन तरक्की पर था। कारण कुछ भी हो, यह बिलकुल सच है कि नया से नया कपड़ा, बिलकुल ताज़े थान भर का बना हुआ अंगा भी उनको छोटा पड़ जाता था।

बेचारे परेशान थे! क्या करें? घबराकर उन्होंने कहीं जाना-आना ही छोड़ दिया। तभी बाहर निकलते, जब प्राण संकट में पड़ जाते। वह भी कभी-कभी नंगे बदन ही ढुलकते चल देते।

पंडित जी धुरन्धर विद्वान् थे, यह तो हम पहले ही कह चुके हैं। उनकी विद्वत्ता पर तब और श्रद्धा होती, जब वह मिनटों, सेकेंडों और सेकेंड-विभागों में मुहूर्त्त बतलाते थे। उनके बतलाए हुए मुहूर्त्त में चार संख्याएँ होती थीं—एक घंटे की, दूसरी मिनटों की, तीसरी सेकेंडों की और चौथी सेकेंड-विभागों की। उदाहरण के लिए १२-१०-४५-$\frac{३}{४}$ उनका एक मुहूर्त था।

पंडित जी का कहना था कि उनके बतलाए मुहूर्त के ठीक समय पर यदि लोग शादी-विवाह करें, तो कभी कोई राँड़ न हो, किसी को पत्नी-शोक न उठाना पड़े। लोग मुहूर्त की ठीक 'साइत' चूक जाते हैं; इसी लिए ये सब अनर्थ होते हैं।

बात थी भी ठीक। विवाह बन्दूक का चलाना तो है नहीं, जो कोई 'फ़र्स्ट-प्रेसर' लेकर उँगली लिबलिबी पर रक्खे रहे, और घड़ी का काँटा यथास्थान पहुँचते ही घोड़ा छोड़ दे! शादी-शादी है बहुत से कामों का गोरख-धन्धा होने के कारण मुहूर्त चूक जाना बिलकुल मुमकिन है। और इसीलिए, पंडित जी के अनुसार लोगों को गार्हस्थ्य जीवन में दुःख का पहाड़ पेलना पड़ता था!

अपनी बात की पुष्टि के लिए पंडितजी मुल्लू काछी का उदाहरण देते थे। कहते—"देखो, मुल्लू साठ साल का और उनकी घरवाली पचपन साल की है। दोनों अभी तक सुख से समय काट रहे हैं। एक उन्होंने ही मेरा मुहूर्त बिलकुल ठीक-ठीक माना था। देखा, दोनों में से किसी का सिर तक नहीं दुखता। चैन कर रहे हैं।"

पर मुल्लू कितना चैन कर रहा था, यह ईश्वर ही जानता था। बुढ़ौती में भी बेचारे के सिर पर दिन में एक न एक बार झाड़ू पड़ ही जाती थी!

पंडितजी की आमदनी के बारे में हम कुछ कह चुके हैं, पर उतने से ही थलथलजी का थलथल पेट न भरता था। और भी कई एक नुस्खे काम में लाते थे। उनका नियम था कि साल में एक बार कोई-न कोई कथा अवश्य कहते। कभी श्रीमद्भागवत, कभी रामायण और कभी महाभारत।

कथा का समय वह होता, जब किसान फ़सल काटकर घर ले आते। पूछने पर पंडितजी कहते—"यही उपयुक्त समय है, क्योंकि लोग इस समय काम से छुट्टी पा जाते हैं। कहीं जाने-आने के लिए उनके पास गठरियों समय रहता है।"

यह ठीक था, पर पंडितजी का सच्चा उद्देश्य कुछ दूसरा ही था। उस समय किसानों का घर भरा रहता और कथा में वे अच्छी मोटी रक़म चढ़ा सकते थे।

इन कथाओं से पंडितजी को अच्छा-ख़ासा लाभ हो जाता था, क्योंकि उनकी धाक सिर्फ़ उस गाँव में ही नहीं, इलाक़े भर में थी। अतः आस-पास के बहुत-से गाँवों के लोग कथा सुनने आते। आदमियों का ठट्ठ लग जाता। प्रत्येक मनुष्य उनमें से कुछ न कुछ पंडितजी की धर्म-पोथी पर अवश्य चढ़ाता था। इस तरह थलथलजी की चाँदी कट जाती। उन कथा के दिनों के पंडितजी का वह गर्भवती स्त्रीवाला पाप कथामृत में घुलकर पुण्य हो जाता था, क्योंकि असली आमदनी तो स्त्रियों से ही होती थी न।

एक बार पंडित घरघूमन महाभारत की कथा पर बैठे। ख़बर पाते ही आस-पास से भक्तों के झुंड चीटियों के झुंड की तरह आने लगे! पंडितजी के घर का आँगन स्त्री-पुरुषों से रोज़ भर जाता, जैसे बिठूर के मेले के दिनों में सूबेदार साहब की गाड़ी का जनाना डब्बा भर जाता है। आदमी पर आदमी गिरते थे!

स्त्रियों में तो भीड़ के कारण कभी-कभी आपस में गाली-गलौज तक होने लगती थी। पंडितजी किसी तरह सबको शान्त कर कथामृत बहाने लगते। लोग भक्ति के नशे से मस्त हो इस तरह झूमने लगते, जैसे हवा से गेहूँ का खेत!

एक दिन भीड़ अपनी जवानी पर थी। तिल धरने की जगह न थी! ख़ासकर स्त्रियों में तो 'पुर' आ गया था। उनकी संख्या फूलकर दूनी से भी ज्यादा हो गयी थी क्योंकि 'सावित्री-सत्यवान' की कथा का प्रोग्राम था। ठीक समय पर पंडित जी ने कथा प्रारम्भ की। उनकी वाणी में कुछ ज़्यादा मिठास थी, और अर्थ की तो उन्होंने एक नयी 'डिक्शनरी' खोल दी थी!

लोगों ने तारीफ़ों के पुल बाँध दिये, जिनके बीच से शब्द इठलाते, अकड़ते, झिझकते इस तरह जाने लगे जैसे गंगा में नाव। कथा-प्रसंग इस प्रकार था—सावित्री एक अन्धे, बनवासी, राज्य-च्युत राजा के लड़के सत्यवान से विवाह करने का हठ करती है। समझाने पर भी नहीं मानती। उसी समय नारद मुनि वहाँ यह कहने पहुँचते हैं कि लड़के की आयु बहुत थोड़ी है......इत्यादि।

नारद मुनि दृश्य में आही रहे थे कि पंडितजी बोले—"उसी समय नारद मुनि 'साइकिल' पर चढ़ राजसभा में पधारे।"

आपके लिए शायद यह फ़िक़रा नया न होगा, बहुत बार आपके कान नारद जी की साइकिल से रौंदे गये होंगे, पर उन श्रोताओं के लिए यह बात गधे के सींग से भी ज्यादा नयी और ताज्जुब की थी! जो लोग वाह! वाह! कर रहे थे, वे चुप हो गये। सारी सभा सन्न हो गयी। पुराने जमाने में साइकिलें तो थां ही नहीं, नारदजी ने कहाँ से चुरा मारी! पर पंडितजी ग़लत बात नहीं बोल सकते। कठिन समस्या थी। लोग एक दूसरे का मुँह देखने लगे!

आखिर एक भक्त से न रहा गया। खड़ा हो गिड़गिड़ा उठा—"पंडितजी महराज, क्षमा कीजिये। हम मतिमन्दों की समझ में यह बात नहीं आयी कि नारदजी को साइकिल कहाँ से मिल गई। शास्त्रों के अनुसार उन दिनों साइकिलें तो थीं ही नहीं।"

पंडितजी शंका सुनकर मुस्कराये। बोले—"साइकिल का मतलब क्या है भैया?"

उस आदमी ने कहा—"पैरगाड़ी"

पंडित जी हाथ ऊँचाकर समझाते हुए बोले—"बस, तो नारदजी महाराज पैरगाड़ी पर चढ़कर आये। अर्थात् यदि रूपक निकाल दिया जाय तो साधारण शब्दों में पैदल आये' अर्थ होगा।

भीड़ के कंठ भक्ति से भर उठे। चारों ओर से आवाजें आने लगीं—"धन्य हो महाराज! धन्य हो!"

ऐसे थे वह पंडितजी।

❀ ❀ ❀ ❀

आखिर एक दिन पंडितजी की ख्याति इलाक़े से प्रदेश, प्रदेश से हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तान से चहल-क़दमी करती हुई 'स्वर्गिस्तान' पहुँच गयी!

उनके गुणों से मोहित हो एक दिन यमराज चुपचाप सोते समय उनकी आत्मा चुराकर भाग खड़े हुए!

गाँववाले कहते हैं कि जब पंडितजी मरे, तब चार मुर्दों के सोने के लायक़ अर्थी बनायी गयी थी। चुनिन्दा-चुनिन्दा चौदह आदमियों ने उसे उठाया, और आस-पास के चौबीस गाँवों के आदमियों से घिरे हुए 'चरमर' नदी पर उसे ले गये। उसी नदी की चमचमाती हुई रेत पर पंडितजी का चौबीस मन लकड़ी, चौदह मन घी और चार मन मिट्टी के तेल से अग्नि-संस्कार किया गया!

इस तरह पंडितजी तो चलते हुए, अब केवल उनकी चर्चा रह गयी है!

बैल

स्वार्थ-परता के किसी क्रूर क्षण में मेरे पूर्व पुरुष वन से जबरन लाकर मनुष्य द्वारा बनाये गये बन्दी खाने में कैद किये गये थे। इतिहास में इनका लेखा नहीं। मनुष्य- कृत इतिहास में पराधीन जातियों को स्थान ही कहाँ है?

हमारी जाति का तो जिसे इतिहास जानना हो वह पूछे इस खम्भे से और इस जंजीर से जो अपनी जटिल क्रूरता में हमें इन अनगिनते युगों से जकड़े है!

जिसे हमारे पतन के इतिहास में दिलचस्पी हो वह पूछे गोशाला के के पवित्र नाम से सम्बोधित की जाने वाली इस बधिक शाला से!

इसकी दुर्गन्धि पूरित नालियों, इन गहरे ख़न्दकों और इन कोनों में, जहां प्रकाश को युगों से प्रवेश नहीं मिला, हमारी जाति का विस्मृत इतिहास मौन सिसकियाँ भर रहा है।

मैं जिस जंजीर से बँधा हूँ उस जंजीर से मेरे अनेक पूर्वज बाँधे जा चुके हैं। पराधीनता के इस फन्दे में, जो आज मेरा दम घोंट रहा है, मेरे अनेकों पूर्व पुरुष घुट-घुट कर मर चुके हैं—वे पूर्व पुरुष जिनके दंहक से पृथ्वी डोलती थी—जिनके पदाघात से संसार थर्राता था!

मैं तो आज अत्यन्त कृश हूँ। मेरा शरीर तो अत्यन्त क्षीण है। मेरे मुरझाये हुए चेहरे पर तो मेरे जाति के सदियों के पतन की गहरी छाप है? मेरी वाणी तो आज स्वयम् रुद्ध है। आज मुझे इस जंजीर से कुछ ममत्व सा हो गया है; इसकी झनकारों में मेरे पूर्वजों का सदियों का इतिहास बोलता है!

इस खम्भे से आज मेरी आत्मीयता सी हो गयी है। इसी के मौन में तो मेरे पूर्व-पुरुषों की दासता की करुण कथा मुखरित होती है! यही स्तम्भ तो आज इन सब का स्मारक है।

मैं कितनी परवशता के आँसुओं से इसे प्रतिदिन सींचता हूँ! एक दिन मेरे इतिहास को भी तो इसकी मौन कहानी का विषय बनना है। एक दिन मेरे जीवन की कसक भी इस जंजीर की ध्वनि में लीन होगी।

मैं बैल हूँ-बैल, जिसकी हड्डियाँ विवशता का बोझ ढोते-ढोते निकल आयी हैं। जिसका कन्धा दासता के जुए के नीचे छिल चुका है। वह बैल जो अपनी तरुणाई के बसन्त में भी मृत्यु के पतझड़ के सपने देखा करता है!

पता नहीं किस दुर्दिन के दाहक प्रभात में मैंने अपनी भोली आंखें इस कारागृह में पहले पहल खोलीं! हा-मुझे मेरी मा की याद भी

भुलाने की चीज होती है ? वह तो जैसे अग्नि वर्णों में मेरी आँखों के सामने जल रही हो !

हाँ, मेरी मा थी—मा, जिसके स्तन का दूध अत्याचारों को सह सह सूख गया था ! मा, जिसका हृदय क्रूरताओं के शतशत आघात सह कर भी बना रहा था—नवनीत जैसा स्निग्ध एवम् कोमल !

मैंने जिस दिन पलकें खोलीं, मा का हृदय स्नेह-गद्गद् हो उठा। आँखों से आनन्दाश्रु बरस पड़े ! मेरे शरीर को जीभ से प्रेमपूर्वक चाट कर उसने मुझे परम स्फूर्ति प्रदान की। मैं समझा था, मैं पवित्रता के किसी स्वर्ग में उतर आया। आह, कितना मधुर था जीवन का वह प्रथम क्षण ! मैं अपना सर्वस्व देकर भी यदि उस क्षण को चिरता दे सकता !

लेकिन नहीं—दूर से जो चाँद इतना प्रकाशवान दिखायी देता है वह इस गर्हित पृथ्वी सा ही मिट्टी का ढेर तो है ! जीवन को तब मैं दूर—अत्यन्त दूर ही से तो देख रहा था ! इसीलिए तो उसका रूप था उतना मोहक और आकर्षक ! आह ! यदि मैं जीवन की इस जघन्यता से उतनी ही दूर बना रह सकता !

मेरे पड़ोस में छोटे-छोटे बच्चे थे। उनका हृदय मेरे लिए कितने ममत्व से भरा था ! उन्होंने मेरे गले में घुँघरुएँ पहना रखीं थीं। मैं उछलता था और वे अपनी मधुर ध्वनि से मेरे चारों ओर के वातावरण को मुखरित कर देती थीं ! मैं विह्वल हो उठता था। मुझे क्या पता था कि वही घुँघरुएँ आज के इस यूप का प्रारम्भिक संस्करण थीं।

हाँ तो मेरी मा के स्तनों में उसके स्नेह का दूध उतर आया था। परमात्मा की मेरे लिए वह प्रकृत देन थी। मैं प्रसन्न था। वह मेरी निजू चीज थी। लेकिन मनुष्य की स्वार्थपरता ने मा का दोहन शुरू किया ! मैया की ममता तड़प उठी। उसका बच्चा भूखों मरे और दूसरे उसके दूध पर पुष्ट हों ! यह सब उसे कैसे भला लगता ?

उसने सिर हिलाया—मना किया। लेकिन सीधी गौ की सुनता कौन है? उसने कुछ पैर हिलाये; अपने प्रकृतिदत्त अस्त्रों का भी कुछ उपयोग किया। लेकिन इससे तो स्वार्थ और चिढ़ा ही!

पैरों के लिए नये बन्धन गढ़े गये। सींग रूपी अस्त्र सुन्दरता की आड़ में काट-छाँट कर बेकाम कर दिये गये। मैं भूखों मरने लगा और मेरे भोज्य-द्रव्य पर पलने लगी दुनिया की विलासिता! मैं किससे क्या कहता? मैं गुलाम था! गुलाम बेज़बान हुआ करते हैं! उनका जीवन ही दोहन और शोषण के लिए होता है!

हाँ, मुझे अपने पड़ोसी बालकों से प्यार था। जाति-भेद की कठोर दीवारों ने मेरे प्रेम को किसी एक के लिए क़ैद न कर रखा था। जाति-भेद का भूत तो आखिर मनुष्य के ही मस्तिष्क की चीज़ है!

मैं अपने उन नन्हे-नन्हे पड़ोसियों के बीच अपने आपको खो देता था। हाँ, कभी-कभी उनके चमकीले कपड़े देख मेरी भी इच्छा होती थी—इस ठिठुरने वाली सरदी में अगर मैं ये ऊनी कोट पा सकता! लेकिन नहीं—मैं सोचता था, 'शायद हम दूसरों के वस्त्रों के लिए साधन जुटाने को ही पैदा हुए हैं!'

मेरे जी में आता था—कितनी त्यागमयी है हमारी ज़ाति! दूसरों को अनाज देकर स्वयम् भूसे पर बसर करती है! आह, आज मुझे अपने उस दम्भ का खोखलापन मालूम हो रहा है! जिसे हम त्याग कहते हैं, वह हमारी मजबूरी ही तो है! हमें हक़ ही कब है कि हम खून का पसीना बहाकर पैदा किये गये अन्न का एक दाना भी खा सकें!

मैं बड़ा हुआ और शायद मेरे साथ ही बढ़ चलीं मेरी आपत्तियाँ। एक दिन मेरे चारों ओर कुछ ज्यादा चहल-पहल दिखायी दी! मैं ने समझा कि आख़िर यह सब क्या हो रहा है। मेरी माँ के तो मानों प्राण सूख गये हों! वह तो बार-बार ममतापूर्वक मुझे चूमती थी और रँभाती थी। उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग रही थी!

मैं अबोध था—कुछ न जानता था, फिर भी मा की तकलीफ़ देख दुखी था। उसी की छाती का दूध तो मेरी नसों में रक्त बन कर दौड़ रहा था। मा ने मुझसे कहा—"आज उसे कसाइयों के हाथ बिकना होगा—कमज़ोर वह जो हो गयी है। दूध दे नहीं सकती। बोंथरे छुरे से उसका शरीर जिबह किया जायगा और फिर उस का गोश्त दुनिया की हाटों में बिकेगा। उससे लोगों की भूख के भयंकर गढ़े पाटे जायँगे! कमज़ोर होने पर हम सभी की यही दशा होती है!

मेरे प्राण अन्तर्व्यथा से छटपटा उठे। आह! स्वार्थ की भी कोई हद होती है! हम पशुओं के कार्यों को पाशविक कहने वाले मनुष्यों के इन क्रूर कर्मों की भी कोई आलोचना करेगा?

मा ने मुझे बताया हम और हमारे जैसे ही दूसरे पशु नामधारी जीव अकसर ईश्वर के नाम पर जिबह किये जाते हैं। कितने मन्दिर और मस्जिद हमारे रक्त से रँगे हैं! हमारा गोश्त प्रसाद के रूप में बाँटा जाता है!

मेरे प्राण दुख से पुकार उठे—'ईश्वर! ईश्वर! तेरे नाम पर यह अत्याचार कब तक और चलेगा?"

आख़िर मा को कसाई के हाथों बेच ही दिया गया। मैं कुछ न कर सका—क़ैद जो था। मा की करुण पुकार आज मेरा हृदय विदीर्ण किये डालती है! मेरे जी में प्रतिहिंसा की आग धधक रही है! यदि मैं मुक्त होता......।

मेरे जीवन का आनन्द मुझ से छिन गया। अब तो मेरे सामने एक ही चित्र झूला करता है—"मैं बूढ़ा हूँ। मेरी गर्दन पर यह छूरी फेरी जा रही है! मेरा क़तरा-क़तरा वेदना से कराह रहा है! लोगों की इस स्वार्थपरता को जानते हुए मैं उन्हें कैसे मदद दूँ!"

मैं जबरन लादी गयी गुलामी के इस जुए को क्यों खींचूँ? किस ईश्वर ने ये हुक्म दिया कि खेत बैल जोते, अनाज बैल पैदा करे और खाये उसका जबरन बना हुआ स्वामी!

मैंने निश्चय कर लिया है कि गुलामी के इस विशाल यन्त्र का मैं अब नन्हासा पुर्ज़ा भी नहीं बना रह सकता। मेरे बचपन के वही दोस्त जिन्हें मेरी मा ने दूध पिला कर पाला था—जो मेरे गले में घुँघरुएँ बाँधकर किलकते थे—आज मेरे लिए काँटों का बिछौना तैयार करने लगे!

मेरा हृदय ममता से आज भरा है। उन्हें देख आज भी मैं प्यार से डहकने लगता हूँ—आज भी उनके हाथ चाट कर मैं पुलकित हो उठता हूँ। फिर उनका हृदय क्यों इतना स्नेहशून्य है? वेदना से मेरा हृदय रो उठता है—"ईश्वर! ईश्वर! क्यों जब मनुष्य का निर्माण करने चला था तब तेरे ममत्व का दिवाला निकल चुका था!"

मुझ पर प्रतिदिन कड़ी मार पड़ती है। कई दिन तक मुझे सूखी घास और भूसा भी मुयस्सर नहीं होता। प्रकृतिदत्त पानी का घूट लेने का भी मुझे अधिकार नहीं है। सूर्य का प्रकाश और वायु—जिन्हें ईश्वर ने सब के लिए बनाया है—उनका भी मैं पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सकता!

लेकिन मुझे यह मंजूर है। मुझे विश्वास है, और दृढ़ विश्वास है—एक दिन ये अत्याचार रुकेंगे, और जरूर रुकेंगे! भले इसके लिए मुझ जैसे अनेकों को आत्म-बलिदान करना पड़े! जिस दिन मेरी जाति में इन अत्याचारों को सहने का बल आ जायगा उसी दिन यह दोहन और शोषण का यन्त्र अपने आप रुक जायगा। और उस दिन तो इन जंजीरों पर ध्वनित होगा विश्व-मुक्ति या लोकव्यापी संगीत!

कोई कह सकता है—वह दिन कितनी दूर है?

———

काकी

महिम और उसकी काकी में जो एक गाढ़े स्नेह का बन्धन है, उसकी बात घर के प्रायः सभी लोग जानते हैं। पर कुछ दिन से उन दोनों के बीच जो एक अनबन चली आ रही है, उसकी बात शायद किसी को भी नहीं मालूम।

इसी अनबन की बात को ही जरा विस्तार से कहना पड़ेगा।

एक दिन रात को महिम बोला—"काकी, आज तो बड़ा खराब-खराब-सा लगता है। जरा एक कप चाय तो बना दो।"

यह बात नहीं कि चाय घर में और कोई न बना सकता हो या महिम को ही बनाना याद न हो। पर काकी के हाथ की बनी चाय में एक विशेष स्वाद मिलता है जो महिम अन्यत्र नहीं पाता। या कभी-कभी काकी को सिर्फ तंग करने के लिए ही, मौके-बेमौके, यह चाय बनाने की शर्त उठायी जाती है और जब ये काकी झल्ला पड़ती हैं, तो उस झल्लाने में भी एक ऐसा अपनापन होता है जिसका मजा महिम कभी हाथ से नहीं जाने देता।

महिम कहता है—"काकी, तुम झल्लाती क्यों हो? साफ मना क्यों नहीं कर देतीं।"

पर काकी यही तो नहीं कर पातीं। यह महिम तो सदा उनके समीप स्नेह का पात्र है। जैसे उसका कोई काम न करने से उन्हें बड़ा दुःख होता है। और जो ये झल्लाती हैं सो तो इस कारण से कि उन्हें भी, महिम के समान, अपने झल्लाने में एक स्वाद-सा मिलता है। इस

लड़के से झगड़ कर ही तो वे अपने आकुल प्राणों को शान्त कर पाती हैं।

काकी मुस्कराकर कह देती हैं—"तू बड़ा खोटा है रे महिम।"

और खोटा बन के महिम का काम हो जाता है।

पर उस दिन न जाने क्या बात थी। शायद काकी थकी हुई थीं। घर में महिम की बहन का ब्याह है, सो दिन-भर काम-धन्धे से फुरसत नहीं पायी थीं। बोलीं—"तू तो बड़ा अँगरेज हो गया है, महिम। जब देखो तब यह चाय ही तेरे मुँह पर चढ़ी रहती है। पर इस वक्त तो नहीं बन सकेगी। मुझे नींद लगी है।"

महिम को लगा कि काकी झल्लाने का बहाना ढूँढ़ रही हैं। उसने विनोद किया—"काकी, तुमने तो इस तरह कहा कि चाय जैसे अँगरेज ही पीते हैं।"

काकी महिम की सूझ पर मन-ही-मन हँसी न आयी हो सो नहीं; पर उन्होंने कहा—"तू जो कह, पर आज चाय नहीं बनेगी और मैं सोऊँगी।"

पर थोड़ी देर बाद महिम को स्टोव की घर-घर की आवाज सुन पड़ी। उसने अपनी छोटी बहन को आवाज दी। पूछा—"यह स्टोव कौन जला रहा है"

बहन ने बताया—"काकी।"

महिम ने प्रश्न किया—"क्या बन रहा है?"

बहन बोली—"काका के लिए हलुआ।",

बस, महिम सुनकर जल उठा।

यह बात जरूर है कि महिम का एक पल भी काकी के बिना चैन से नहीं गुजर सकता। वह अपने अगाध स्नेह के बीच मानता है कि यह काकी ही संसार के सारे मातृत्व की अधिकारिणी होकर धरती पर प्रकट हुई हैं। पर महिम में एक खराबी है। वह ऐसा कंजूस है कि अपने स्नेह के अधिकार में किसी को भी शामिल नहीं करना चाहता।

वह चाहता है कि काकी के स्नेह का वही पूर्णरूप से अधिकारी होकर रहे। उसमें कोई साझीदार, हिस्सा बँटाने वाला न हो।

जब वह उन्हें सब कुछ मानकर चलना चाहता है—और चलता ही है—तब कोई सबब नहीं कि काकी उसके अधिकार की वस्तु को बिना कीमत दूसरों को दान करती फिरें। उसने तो इस स्नेह के अधिकार को प्राप्त करने के लिए अपना सब कुछ त्याग कर, अपने को बिलकुल रीता करके, अपना सर्वस्व काकी को सौंपा है!

पर अपने स्नेह के अधिकार में इस तरह व्याघात पड़ा हुआ जानकर उसकी काकी में अनास्था हो चली और वह मन-ही-मन सोचने लगा—"आख़िर आदमी अपने आदमी को ही पचता है। चाहे वह अपना कलेजा ही निकालकर क्यों न रख दे, पर उन्हें विश्वास थोड़े ही आयेगा और यह अपने पराये का भेद अटल ही बना रहेगा। यह बात जरूर है कि उनका पत्नीत्व भी उनसे किसी कर्तव्य की आकांक्षा रखता है, पर उसके लिए मातृत्व को क्या ऐसा अपमानित करना होता है? इन काकी का इतना धर्म-संकल्प, इतनी मोह-माया कोरी दिखावटी ही है! भीतर काकी जैसे बिलकुल खोकी हैं।"

महिम को गुस्सा तो ऐसा था कि जाकर स्टोव में लात मार दे और सारे हलुए को बिथराकर उनसे पूछ ले कि अब उनकी नींद कहाँ चली गयी; पर वह किसी तरह अपने को जब्त किये चादर ओढ़े पड़ा रहा और उसने निश्चय किया कि इन ढुकसलो काकी से वह अब कभी न बोलेगा।

थोड़ी देर बाद काकी ने आकर कहा—"ले महिम, उठकर चाय पी ले।"

और समय होता तो महिम जरूर उठकर चाय पी लेता। पर इस काल तो महिम अपनी महिमा में भरा था। बोला—"मैं चाय नहीं पीता।"

काकी ने पूछा—"क्यों?"

महिम ने जवाब दिया—"चाय जाकर चाचा को पिलाओ।"

काकी जहाँ नारी हैं वहीं यह बात जाकर लगी। बोलीं—"अच्छा।"

महिम की महिमा और सुलग उठी!

दूसरे दिन महिम ठीक आठ बजे सोकर उठा। उसे याद आया कि रोज़ की भाँति काकी ने आकर आज उसे नहीं उठाया। कमरे में नज़र दौड़ायी तो देखा, रात की किताबें उसी बेतरतीबी से पड़ी हैं। कुल्ला-दातुन करने पहुँचा तो मंजन की डिब्बी और ब्रुश नहीं मिला। उसने झल्लाकर कहा—"ऐसे कैसे चलेगा?"

घर के भोजन की व्यवस्था काकी के हाथ में है। रोज़ काकी ही आकर रसोई के बारे में महिम से सलाह लेती हैं। पर आज खुद महिम की मा आयीं, बोलीं—"देख रे महिम, काकी की तबियत आज खराब है। उनसे रसोई आज नहीं बनेगी। रसोई मैं बनाऊँगी। बोल क्या-क्या बनेगा?"

महिम ने झटपट दो-चार चीज़ें गिनाकर कहा—"और मा देखो, कल से तुम्हीं मुझे जगाने आना और मेरे सब काम करना।"

मा ने देखा कि यह बला कहाँ से सिर पर आ पड़ी। आज तक काकी पर अपने लड़के को छोड़कर वे निश्चिन्त रही हैं। उन्हें ठीक तरह से मालूम भी तो नहीं कि महिम के कौन-कौन से काम हैं और उसकी चीज़ें कहाँ-कहाँ रखी रहती हैं। यह महिम ज़रा-सा काम बिगड़ जाने से झल्ला भी तो पड़ता है। ऐसे नखतोरे तोड़ने वाले लड़के का उनसे कैसे भार सँभलेगा? यह कला तो सिर्फ़ काकी ही को याद है।

उन्होंने कहा—"क्यों, काकी तो हैं।"

महिम अपने जी की बात छिपाते हुए बोला—"काकी हैं तो यह न्याय कहाँ का कि सारा काम उनके माथे ही लाद दिया जाय।"

मा अपने बेटे की न्याय-प्रियता का उदाहरण देखकर न जाने खुश हुईं या नाखुश। पर वे बोलीं—"पर पहले काकी ही मुझे तेरे काम को कब करने देंगी? उन्होंने तो अपने-आप जिम्मा लिया है।"

महिम ने कहा—"तो उन्हें छुट्टी देनी होगी।"

पर काकी को छुट्टी देकर भी तो सन्तुष्ट नहीं है। उसका सुख जैसे कोई चुरा ले गया है। महिम का घर में रहना दुशवार हो गया है। चिड़चिड़े स्वभाव का हो गया है और सदा झल्लाहट कभी मा पर उतरती है, कभी अपने छोटे भाई-बहनों पर। उसका जीवन बड़ा फीका और स्वादहीन है। उसमें कोई गति नहीं है। वह बिलकुल निश्चल है। उसमें से शोभा जैसे एकदम खो गयी है।

महिम ने आज ही अपनी समस्या पर विचार किया—'वह क्यों काकी के स्नेह को कंजूस की भाँति अपना लेना चाहता है। उसके तो मा है। मा से वह क्यों स्नेह नहीं जोड़ता ?'

सोचकर महिम ने पाया कि उसकी मा में तो केवल छूँछा मातृत्व है। निरपेक्ष और अयाचित मातृत्व तो कभी भी पूंजीभूत किया जा सकता है। यह पर काकी तो मा के सिवाय और भी कुछ हैं। इसी से उसके मातृत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह काकी के मूल में जो नारी है वह स्वामित्व की ऐसी भूखी है कि पात्र-अपात्र का कुछ भी ख्याल न कर सबको खुले हाथ अपने स्नेह का दान कर ख़रीद लेना चाहती है। इसीसे उसके भीतर जो रस है वह एक में केन्द्रीभूत न होकर सब ओर संचरित होकर थोड़ा-थोड़ा सब में बँट जाना चाहता है।

घरके दूसरे बालक भी महिम के समान यही समझते हैं कि काकी का दुलार उन्हीं पर आकर ख़तम हो गया है। इसी से तो महिम के जी में ऐसा होड़ाहोड़ है कि जितना हो सके, अधिक से अधिक रस से अपने को भर ले और धन्य मान ले।

ब्याह के दिन हैं और महिम के हाथ में कुछ कम काम नहीं है। दोपहर को मा ने महिम को घर की सब औरतों के लिए साड़ियाँ लेने बाजार भेजा। महिम जब सब के लिए धोतियाँ खरीद चुका तब उसे काकी के लिए याद आयी। काकी की साड़ी सब से बढ़कर हुई।

महिम घर आकर बंडल खोल साड़ियाँ निकाल-निकाल कर मा को समझाने लगा कि कौन सी किसके लिए है और किस कीमत की है।

जब काकी की साड़ी उसके हाथ में आयी तो बोला...“यह साड़ी दिखाओ तो मा, काकी को पसन्द है या नहीं।”

मा बोली—“साड़ी तो बढ़िया है।”

और पास बैठी काकी से उन्होंने कहा—“छोटी बहू, देखो तो मेरा महिम तुम्हारे लिए कैसी अच्छी साड़ी लाया है।”

काकी ने जवाब दिया—“नहीं जीजी, तुम्हारा महिम ऐसा भोला नहीं है जो काकी के लिए इतने भारी दाम की साड़ी लायगा। यह साड़ी वह तुम्हारे लिए लाया होगा।”

महिम ने छूटते ही कहा—“हाँ मा, यह साड़ी लाया तो मैं तुम्हारे लिए ही हूँ।”—और इतना कह बाहर चला आया।

काकी के जी में महिम को चिढ़ाकर कुछ दरेग़ न हुआ हो, सो नहीं। वे महिम को खूब अच्छी तरह पहचानती हैं। ‘यह चुप्पा लड़का कभी किसी से बातचीत नहीं करता। उसे द्वेष-भाव छू भी नहीं गया है। हृदय का ऐसा साफ है कि गुस्सा होकर फिर क्षण-भर में ही हँसने-बोलने लगता है।’

‘यह कुछ कम निरपेक्ष और त्यागी भी नहीं है। किसी चीज पर भी अपना प्रेम नहीं दिखाता। पर ऐसा मुहब्बती है कि घर में जरा भी कहीं वह किसी की तबियत खराब होने की बात सुन लेता है तो घबरा जाता है और सिर पर दुनिया उठा लेता है।’

काकी ने भी आज अपनी समस्या पर विचार किया—‘वे सब से स्नेह करके भी महिम को ही क्यों इतना अधिक चाहती हैं?’ सोच-कर काकी ने देखा कि ये काकी जैसे इस केवल महिम के पास ही पूर्ण रूप से मा हैं। यह केवल महिम का ही काम है जो अपने अन्तःकरण का श्रद्धा-अर्घ्य देकर, एकनिष्ठ पूजा से पूज कर, उन्हें मातृत्व से मंडित कर सकता है।

जैसे महिम के पास से अभ्यर्थना न पाकर वे केवल नारी के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गयीं हैं। जो मातृत्व उनसे उच्छ्वसित होकर सब ओर बहता था, वह संकुचित होकर सीमा के भीतर चला आया है। महिम को कुछ न दे सकने के कारण वे जैसे कहीं भी किसी को कुछ नहीं दे सकतीं। वे आज नितान्त कृपण हैं।

काकी की समझ में एक बात और आयी। वे माता होकर भी कहीं ऐसी जटिल रूप से नारी हैं जिसकी बात केवल यह महिम ही समझ पाता है। काकी के पति कुछ सूखी तबियत के आदमी हैं। इसी से उनके भीतर की रसमयी नारी वहाँ अपने लिए कोई भोजन नहीं जुटा पाती। काकी जैसे इसी लड़के के पास ही खुल कर नारी हैं।

यह चुप्पा लड़का चुहलप्रिय भी ऐसा है कि कभी ऐसी बात कह जाता है कि काकी के कलेजे तक लकीर हो जाती है। उसे काकी से कोई परदा शरम नहीं है। वह अपनी कहनी-अनकहनी सब बातें काकी से कह देता है। अपने जी की कोई बात उनसे छिपाकर नहीं रखता। काकी को भी उन बातों को सुने बिना जैसे चैन नहीं मिलता। उन्हीं बातों को जैसे अपने में जमा करके वे सुख पाती हैं।

पर नारी की भी तो कोई मर्यादा होती है। वह तो सदा आगे नहीं बढ़ सकती। उसके भीतर जो नृत्य है वह तो सदा किसी के ताल पर ही हो सकता है। पर जहाँ ताल नहीं, जहाँ आगे बढ़ने के लिए संकेत नहीं, वहाँ नारी अपनी शोभा कैसे दिखायेगी ?

यह महिम तो रुष्ट हो पड़ा है। अब तो सूने में ही सजकर विसर्जन करना होता है। प्रतिमा को बनाकर बिना पूजा के ही उसे सिराना होता है। कहीं कोई सीमा-अंकन नहीं, जहाँ जाकर काकी अपने रूठे देव को मना लें।

पर काकी केवल नारी ही तो नहीं हैं। वे मा भी तो हैं। काकी आज अपने ठोसपन को खोकर बिलकुल द्रव्य रूप में होकर बह

रही हैं । इसमें तो जीवन की कोई आकांक्षा नहीं। वे तो जैसे अपने भीतर छिपी इस रहस्यमयी नारी के खुल पड़ने से खीज उठी हैं।

इस नारी के खुल पड़ने से अपने को लांछित हुआ देखती हैं!

यदि महिम ने उस दिन कोई तोख की बात कह ही दी तो क्या हुआ ? मा का दान भी तो वही करता है। उसी दान को लेकर तो काकी साहूकार हैं। उसी पूँजी को पाकर तो काकी अन्नपूर्णा हैं।

आज एकादशी है। काकी फलाहार बना रही हैं। महिम भी व्रती है और वह पास बैठा फलाहार कर रहा है। एक दिन मा के कहने पर कि काकी तो उपवास करती हैं, पर वह तो नहीं करता, तब उसका सच्चा नेह कहाँ हुआ, महिम व्रत रखने लगा है।

भले आदमी को इतना भी तो नहीं मालूम कि उसके स्नेह के परखने की कोई यही तो एक कसौटी नहीं है पर वह इतना अधीर जी है कि किसी को अपने स्नेह पर आक्षेप करते नहीं देख सकता। काकी के जी में उसकी यही बात याद आ रही है और उनके भीतर बड़े जोर से उठ रहा है कि वे महिम से कुछ बात करें, कुछ पूछें और कुछ पूछ-बता कर अपना जी हलका कर सकें।

पर न काकी ही बोलती हैं और न महिम ही उकसता है। काकी थाल में सिंघाड़े की पूड़ी डालती जाती हैं, महिम चुप-चुप जल्दी-जल्दी उन्हें मुँह में रखता जा रहा है।

'जब महिम खाकर चला गया तब काकी एकदम रो पड़ीं। काकी को यह नहीं मालूम था कि यह महिम पेट का ऐसा काला निकलेगा। यह भी ऐसी जल्दी आँखें फेर लेगा। इसके लिए वह जान दिये देती हैं और वह ऐंठा ही जाता है। वह भी कैसी भूल में थीं!'

यह सब इसकी ऊपर की स्वाह-संकला थी। पर भीतर पेट में इसके दाढ़ी है। जानता है कि कितना भी हुआ, आखिर काकी काकी ही हैं। इतने दिन हुए, पर एक भी दिन आकर इसने उनके हाथ जोड़े, माफ़ी

माँगी या लहक कर बोल ही दिया ? अपने-पराये का यही तो भेद होता है !

काकी ने घर की मालकिन, बड़ी बहू को जरा सुनाकर कहा—"सुनती हो यह फलाहार पड़ा है। बाकी आकर तुम बना लो। मेरे सिर में दर्द है। मैं जाकर आराम करूँगी।"

महिम की मा कुछ दिन से गौर कर रही हैं कि इन दोनों में कुछ हो गया है। पर क्या हो गया है यह वे नहीं समझ पातीं। काकी ने एक दिन इतना ही बताया था कि महिम के कहने से एक दिन उन्होंने चाय बनाने को देर कर दी थी। बस उसी दिन से वह कुढ़ा-कुढ़ा फिरता है।

पर क्या महिम इस थोड़ी सी बात को लेकर कुढ़ सकता है ?

उसी दिन रात को मा ने महिम को आकर बताया—'देख, काकी फलाहार नहीं करतीं। वे पड़ी-पड़ी रो रही हैं। तू चल के उनसे बोल दे।"

पर महिम बोला—"मेरा क्या कसूर है। मैं तो उनसे बोलने गया था। वे ही नहीं बोलीं तो मैं क्या करूँ ?"

मा ने कहा—"तू छोटा है, यदि बोल देगा तो घिस नहीं जायगा।"

महिम ने जवाब दिया—"नहीं मा, काकी से तो मैं अब कभी न बोलूँगा।"

और महिम चादर तान कर पड़ रहा।

इधर इन्हीं दिनों महिम ने इस अपने-पराये पर खूब सोचा-विचारा है। उसने पाया है कि आखिर नारी का मूल-स्रोत यह पति ही तो है। और जगत में एक पति-पत्नी का नाता ही तो सत्य है। कोई किसी से क्यों न कैसा गाढ़ा नाता जोड़ ले, पर इस नाते के सामने वह शून्य ही है।

नारी जैसे देने-लेने में बिलकुल स्वतन्त्र भी तो नहीं है। वह जो सब ओर से बटुर कर केवल एक पुरुष में ही लीन होती है, इसीमें तो

उसका महत्व है; इसी में तो उसकी सार्थकता है। यही तो नाता है जहाँ नारी और पुरुष पूर्ण होकर एक-दूसरे के सहगामी होते हैं। यहाँ वे दोनों अविच्छिन्न हैं। यहाँ उन्हें कहीं अपने लिए जवाबदेही नहीं करनी होती। कोई उनसे अपने आचरण के लिए कैफ़ियत तलब नहीं कर सकता।

और महिम जो इतना कुढ़ता है वह इस लिए कि उनके भीतर का पुरुष काकी पर अपने लिए कोई सत्ता नहीं खोज पाता। वह जैसे आज काकी के समीप अपना सब-कुछ खोकर बिलकुल सत्ताहीन हो पड़ा है!

महिम सोचता है—'जो उसका कभी नहीं था, वह यदि उसके हाथ से बिछुड़ गया तो क्या हो गया? जहाँ अभी तक वह बाधा रूप होकर पड़ा था वहाँ से यदि किसी ने निकाल फेंका तो क्या बुरा हुआ? उसने काकी से सदा सेवा पायी है। सदा ही वह उन से दान लेता रहा है। यदि काकी अब अपना हाथ सिकोड़ लेना चाहती हैं तो वह कौन है उनके साथ झगड़नेवाला?'

'यह काकी तो उसकी मा हैं नहीं, जिनसे वह उचित-अनुचित रूप से चिढ़ ले सकता है, ख़ूब जी खोल कर लड़-भिड़ सकता है। तब भी उसकी मा की उसी में गति है। पर यह काकी से ऐसा क्यों नहीं कर पाता? क्यों काकी के बीच एक रेखा मानकर उसे चलना पड़ रहा है? क्या जिस अधिकार से उसने काकी को मंडित किया है वह केवल कल्पना ही है?'

पर महिम उसे कल्पना ही तो नहीं मानना चाहता। इतने दिन की अपनी तपस्या को भंग हो जाते देखकर ही तो उसे छोह होता है। उसे काकी पर इतना छोह नहीं है जितना अपने ऊपर है!

जिस मा को वह इतने दिन से फूल पान देता आया है उसे तो वह कहीं नहीं पाता। पाता है तो उनकी जगह एक छूंछी नारी को, जो बदले में उससे मान चाहती है; जो उसे दंड दे सकती है;

मैं कैसे हँसूँ ?

वास्तव में जो कोई मेरी बात सुनेगा, वही मेरी हंसी उड़ायेगा ! इतनी जरा सी बात के लिए इतना परेशान होने का कारण ही कोई नहीं मान सकता। किन्तु यह बात सुनने में जरा सी मालूम होने पर भी हँसी उड़ाने लायक जरा भी नहीं है।

मैं क्या, मेरे ही समान हिन्दू-घराने में जो भी कोई स्त्री थोड़ी बहुत पढ़ी-लिखी है, उसी के साथ यह परेशानी रहती है। मैं कोई बहुत पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। जब मेरे माता-पिता ने मिडिल पास होने के बाद मेरा पढ़ना बन्द करा दिया था तब मुझे बहुत दुःख हुआ था कि उन्होंने मुझे और अधिक क्यों नहीं पढ़ने दिया।

किन्तु अब मुझे उससे भी अधिक दुःख होता है कि उन्होंने मुझे उतना भी क्यों पढ़ाया ? मुझे पढ़ाया ही क्यों ? यदि मुझे न पढ़ाया होता तो मैं अपनी सब परिस्थितियों में समान मगन रहती। और सब कष्ट चाहे जितने होते, किन्तु मानसिक कष्ट तो नहीं होता, जो मेरी समझ में सब कष्टों में निकृष्ट होता है !

हाँ, तो फिर जो बात कहने जा रही थी वह तो बिलकुल रही जाती है और व्यर्थ की बातों में समय नष्ट कर रही हूँ, जैसा कि आजकल अधिकतर पढ़े-लिखे मनुष्य करते हैं।

वह ब्याह होने के पहले की बात है।

मुझे खूब याद है ! शाम का समय था। वह पहले-पहल मेरे घर आये थे, मुझे अपना घर सौंपने के लिए। मैं पढ़ी-लिखी थी, इसी से

वे सन्तुष्ट हो गये। मेरे पढ़ी-लिखी होने से वे इतने प्रसन्न हो गये कि उन्होंने ब्याह में कुछ दहेज भी नहीं माँगा।

मैं भी बहुत प्रसन्न थी कि चलो, पढ़ी-लिखी हूँ, घर भर में मेरी शान रहेगी। किन्तु मुझे क्या मालूम था कि हिन्दू घर की बहुओं की—विशेष कर कायस्थों की बहुओं की—कभी शान होती ही नहीं है। उन्हें तो भोजन के ग्रास भी दूसरों के दिये हुए ही मिलते हैं।

सारांश यह है कि मेरा ब्याह बड़ी शान से हो गया और मैंने बड़ी धूम-धाम से अपने नव गृह में प्रवेश किया। चार दिनों की चाँदनी और फिर अँधेरी रात! सच है, यही हालत मेरी भी हुई। ब्याह हुए धीरे-धीरे आठ साल हो गये, किन्तु भगवान् ने मेरी गोद में एक भी बालक नहीं दिया।

इससे मेरी सास बहुत असन्तुष्ट हो गयीं। उन्होंने अपने लड़के का दूसरा विवाह करने पर बहुत ज़ोर दिया। इस पर एक दिन वे बहुत नाराज़ हो गये और मुझे लेकर अलग इतनी दूर कलकत्ते में आ बसे!

यहाँ भी मुझे आये चार साल हो गये। इनका व्यवहार धीरे-धीरे कुछ बदलने लगा। मालूम नहीं क्यों अब वे मुझसे कुछ खिंचे-खिंचे से रहने लगे। मुझे दुःख है—इस बात का बहुत दुःख है—पर क्या करूँ!

एक रोज़ मैंने उनसे इसका कारण पूछा। उन्होंने उत्तर दिया—"तुम्हारे पास जब आता हूँ तब तुम सदा अपनी परेशानी ही की बातें बड़बड़ाती रहती हो, कभी हँसती भी नहीं। तुम्हारी डाट-फटकार सुनने से डर कर मैं दूर-दूर भागा फिरता हूँ। यदि तुम पहले की समान फिर हँस कर बातें करने लगो तो देखोगी कि मैं भी फिर पहले के ही समान तुम्हारे ही चारों ओर मँडराने लगूँगा।

मुझे खूब याद है, उस दिन भी सामने खड़ा हुआ यह मूक वृक्ष मुझे चिढ़ा-चिढ़ा कर ख़ूब हँस रहा था। यह समझता होगा कि इतनी

जरा सी बात इनसे नहीं होती। इनको जरा सा हँसना ही बड़ा कठिन है। मैं आँधी को देखते ही किस प्रकार हँसी के कारण लोट-पोट हो जाता हूँ और एक यह हैं!

'सच है, ऐ मूक वृक्ष! तुम्हारा सोचना बिलकुल सच है। यदि मैं भी तुम्हारे समान होती तो शायद मैं भी तुम्हारे ही समान हँसती। परन्तु यदि तुम मेरी दिनचर्या का केवल एक रोज़ का हाल सुनो तो तुम भी अपना हँसना भूल जाओगे।

एक दिन की बात है। शाम का समय था। समस्त प्रकृति अपने-अपने घरों की ओर दौड़ लगाने में निमग्न थी, क्योंकि यही उनका भी समय घर लौटने का था।

दिन भर बातों का अच्छा सा रजिस्टर अपने मस्तिष्क में तैयार करके मैं यह तय भी नहीं कर पायी थी कि कौन सी बात पहले कहनी चाहिए, कि बाहर के कमरे से उनकी आवाज़ कान में पड़ी—"अरे मुलुआ! दो प्याला चाय तो जल्दी से ले आ!"

सुनते ही मैं खाक हो गयी। सारा प्रोग्राम मेरी आँखों से आँसू बन कर टपकने की कोशिश करने लगा। किन्तु सामने तो मुलुआ आ रहा था! नौकर के सामने रोना ठीक नहीं। मैं जल्दी से उठी और चाय बनाने में लग गयी।

कोई भी काम किया जाय, जब तक उसमें शरीर और मन का बराबर संयोग नहीं होता, सफल नहीं होता। यही हालत मेरी थी। मन कहीं घूम रहा था। हाथ-पैर काम कर रहे थे! चाय का पानी खौल रहा था। मैं उसे चायदानी में उँडेल रही थी। चायदानी एकाएक भर गयी और वह खौलता हुआ पानी बह कर मेरे पैर पर पड़ा। पैर बिलकुल भुन गया। ओफ़! बड़ी जलन मच गयी! ख़ैर, जैसे-तैसे चाय बाहर भेज दी।

आशा की एक क्षीण रेखा ने अब भी मेरा साथ नहीं छोड़ा था। 'शायद चाय के बाद अन्दर आवें! इसी विचार में अपने पैर की जलन कुछ भूली हुई थी, परन्तु मेरा ऐसा भाग्य कहाँ!

बाहर का दरवाज़ा लगाकर मुलुआ अन्दर आ गया। मालूम हुआ कि वे डाक्टर साहब के यहाँ गये हैं। सुनकर रहा-सहा हृदय ख़ाक हो गया।

'अच्छी बात है, जायें, डाक्टर साहब के यहाँ जायें! अपने सब मित्रों के यहाँ जायें। केवल घर में आना मुश्किल है और सब जगह जा सकते हैं।" इतनी देर का रोका हुआ आँसुओं का नबल बाँध टूट पड़ा। शायद मेरे आँसू मेरे पैर की जलन बुझाने का प्रयत्न कर रहे थे!

मालूम नहीं, मैं कितनी देर तक इसी प्रकार रोती रही। मुलुआ को मालूम हो गया है वह जो दवा समझ सकता था, सब लगा डालीं; किन्तु उससे क्या होता?

डाक्टर सहब के यहाँ मैंने उसे जान-बूझ कर नहीं जाने दिया। किसी प्रकार मैंने खाना बना कर रक्खा। किन्तु उनका अभी तक पता नहीं। 'हाँ! भला वे अभी घर में क्यों आते? घर में उनका कौन बैठा है? उनकी आँखों में जब निद्रा देवी आकर झाँकने लगेंगी और जब भूख की ज्वाला उनके पेट में अशान्ति मचा देगी, तब कहीं उन्हें घर की याद आयेगी। उससे पहले भला वे घर किस प्रकार और क्यों आवें?"

तब तक मेरे पैर की चाहे जो दशा क्यों न हो? और फिर उनके आते ही मुझे अवश्य हँसना चाहिए। यदि रोऊँगी तो फिर उनका शायद घर में इतना रहना भी घट जाय। अच्छी बात है! आँसुओं, ख़बरदार! उनके सामने तुम मेरे पास से बिलकुल भाग जाना, नहीं तो...।"

हाँ! तो वे अभी तक घर नहीं आये थे! सब काम समाप्त हो जाने पर मैंने मुलुआ को छुट्टी दे दी! आख़िरकार अन्त में उन्हें घर की याद आयी। वे घर में आये। मैं कुछ नहीं बोली। मैंने निश्चय कर लिया था कि पहला शब्द बोलने के पहले मैं हँसूँगी—अवश्य हँसूँगी!

उन्होंने खाना खाया। मैं पान लगाने लगी। अभी तक मैं बहुत सँभल कर चल रही थी। किन्तु इस बार मालूम नहीं किस असावधानी के कारण उन्होंने मेरा लँगड़ाना देख लिया और देखते ही बोले—"पैर में क्या हो गया है?"

मैंने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"कुछ नहीं।"

किन्तु दुष्ट आँसुओं ने मेरा पीछा फिर भी नहीं छोड़ा। वे न मालूम कहाँ से आकर आँखों में छा गये।

उन्होंने मेरा पैर देखा। सब हाल जान कर मुझ से बोले—"मुझ से अभी तक बताया क्यों नहीं?"

मैंने उत्तर दिया—"कब बताती? यदि आपके आते ही मैं अपना दुःख रोने बैठती तो आप नाराज़ होते।"

मेरे प्रगाढ़ मित्र आँसू जल्दी से दौड़ कर मुझे सान्त्वना देने का व्यर्थ प्रयास करने लगे......। और वे? वे अपने जूते पहनने लगे—कहीं बाहर जाने के लिए!

ऐ मेरे उपहासी मूक वृक्ष! मेरी एक दिन की दिनचर्या सुनकर भी क्या तुम उसी प्रकार हँस सकते हो? यदि हँस सकते हो तो हँसो। शायद भगवान ने तुम्हें हँसने के लिए और मुझे रोने के ही लिए बनाया है।

बताओ! तुम्हीं बताओ, मैं कैसे हँसूँ। और रोऊँ भी तो कैसे रोऊँ?

वे बाहर जाकर डाक्टर साहब को लेकर आ गये! अब!

देवता

मानव की पीड़ाएँ जब घनीभूत हो जाती हैं, उसकी सारी शक्तियाँ विफल हो जाती हैं और उसकी आशाएँ पिघल-पिघल कर पुनः दृढ़तर होकर पत्थर बन जाती हैं, तब उसे विवश-विपन्न होकर देवताओं की शरण लेनी पड़ती, उनकी आराधना करनी पड़ती और उनसे अपनी मंगलकामना की भीख माँगनी पड़ती है।

आम तौर पर दुनिया ऐसी ही बातें तो कहती है और देवीदेवताओं की आराधना करने का जैसे मन्त्र सिखाती है। लेकिन देवता यह भीख मानव को कभी देते हैं या नहीं, यह एक ऐसी बात है जिसे समझ सकने में कम से कम पंकज की बुद्धि तो उसका साथ कदापि नहीं देती।

यों पंकज नास्तिक नहीं है, लेकिन देवी-देवताओं की अन्धपूजा करने का भी वह पक्षपाती नहीं। शायद उसे यह विश्वास भी नहीं कि आम तौर पर मानव जिस आशा से किसी देवी-देवता की आराधना करता है, वह कभी पूरी होकर फलवती भी होती है या नहीं।

उसने स्वयम् तो कभी किसी देवता की आराधना आज तक की नहीं और कदाचित् इसीलिए उसके फलाफल पर भी उसका अपना विश्वास नहीं। लेकिन शहर के बाहरी भाग में जिस खुले मैदान में बने हुए एक बँगले में वह रहता है, उसी के एक छोर पर पीपल का एक बहुत पुराना और विशाल वृक्ष है जिसके नीचे एक देवता की मूर्त्ति रखी हुई है—सिन्दूर से रंजित एकदम लाल। और प्रायः प्रतिदिन सन्ध्या सवेरे इस देवता की पूजा-अर्चा करने शहर के कितने ही नर-

नारी आते, देवता को प्रसाद चढ़ाते और सभी अपनी-अपनी मंगल-कामना करते हैं !

पंकज यह सब ध्यानपूर्वक देखा करता और सोचा करता कि इस दुनिया में दुःख और पीड़ाओं की कोई सीमा नहीं, तभी तो नित्य नर-नारी यहाँ आते और देवता से अपनी कुशल के लिए भीख माँगते हैं। इनमें कुछ ऐसे नर-नारियों को भी पंकज ने देखा है जो नियमपूर्वक प्रतिदिन आते और देवता के समक्ष नतमस्तक होकर अपने को धन्य मानते।

इन आराधना करने वालों की मनोकामना कभी पूरी होती हो या नहीं, लेकिन देवता के पुजारी की पाँचों अँगुलियाँ घी में रहती थीं। देवता को अर्पित की जाने वाली समस्त सामग्री उसके घर आती। उसे कभी किसी ने म्लान नहीं देखा, दुखी नहीं देखा !

दुनिया कहती कि देवता की अनन्य आराधना वह करता है, इसीलिए वह सुखी रहता है। लेकिन पंकज का दिल भीतर ही भीतर कह उठता कि यह सब केवल मक्कारी है और दुनिया को ठगने की एक दूकानदारी है !

जिस पुजारी को किसी भी ग़रीब अथवा दर्द से कराहते हुए व्यक्ति पर दया नहीं आती, बल्कि देवता के नाम पर कुछ न कुछ भेंट चढ़ाने का उसे संकेत करते हुए उसे तनिक भी संकोच नहीं होता, उसकी आराधना पर देवता प्रसन्न भी हो सकता है इस बात को कम से कम पंकज तो हरगिज नहीं मान सकता।

कितने ही अवसरों पर पंकज ने यह देखा है कि इस पुजारी ने अनेक ग़रीबों से भी, आरोग्य-लाभ के लालच में देवता के लिए बड़ी-बड़ी भेंट का न केवल इकरार कराया; बल्कि उन्हें कर्ज़ लेने पर मजबूर किया। और उस भेंट से अपना पेट भरा ही, साथ ही उस पैसे का उसने दुरुपयोग भी किया !

उस दिन पंकज इन सब विचारों में उलझना नहीं चाहता था; लेकिन संध्या समय दफ़्तर से लौटने पर जब उसने अपनी पत्नी से

यह जाना कि आज श्यामा के पति की तबियत बहुत खराब है और किसी डाक्टर को बुला लाने का कष्ट पंकज को देना चाहती है, तब दफ़्तर की पोशाक बदलते हुए उसके दिमाग में ये सारी बातें अनायास एक तूफ़ान की तरह उमड़ पड़ीं।

श्यामा को पंकज 'भाभी' कहता था और इसका एक कारण था। श्यामा के पति का छोटा भाई नन्दन पंकज के अन्तरंग मित्रों में से एक है। पंकज के साथ ही उसने कालेज की शिक्षा समाप्त की; किन्तु परिस्थितियों की मजबूरी से उसे आज पंकज से बहुत दूर नौकरी पर चला जाना पड़ा।

नन्दन जब यहाँ था, तब ऐसा कोई दिन न जाता कि पंकज उसके यहाँ और नन्दन पंकज के यहाँ न आता हो। इसी सिलसिले में नन्दन की भाभी—श्यामा—के हाथों कितनी बार पंकज ने भोजन किया, चाय के साथ नाश्ता किया और तभी से उसकी आत्मीयता का वह क़ायल हो गया।

इधर नन्दन जब बाहर चला गया तब पंकज ने करीब-करीब उसके घर जाना-आना बन्द कर दिया। यद्यपि श्यामा ने और नन्दन के बड़े भाई ने पंकज को उपालम्भ देते हुए कितनी ही बार यह भी कहा—'नन्दन बाहर नौकरी पर चला गया है तो तुम्हीं बीच-बीच में हमारे यहाँ आया करो। तुम्हें देखकर हम लोग जैसे नन्दन को पा जाते हैं।' लेकिन पंकज ने यह ठीक नहीं समझा।

वह दुनियादारी को बखूबी समझने लगा था। व्यर्थ ही किसी की टीका-टिप्पणी सुनने की राह पर वह अपना कदम नहीं रखना चाहता था। हाँ, जब कभी किसी सहायता अथवा सेवा की आवश्यकता आ पड़ती, तब श्यामा और उसके पति के लिए पंकज का रोम-रोम न्योछावर हो जाता। वह दुनिया को ऐसे अवसरों पर यह दिखा देता कि जिसे वह अपनी भाभी मान चुका है, उसके घर भले ही वह नित्य न आता-जाता हो, लेकिन जरूरत पड़ने पर वह उसकी उसी

तरह सेवा-शुश्रूषा करने में कुछ उठा नहीं रखता जिस तरह श्यामा का देवर नन्दन कर सकता था।

इधर कितने ही दिनों से पंकज की इस भाभी के देवता अस्वस्थ थे। बीच में एक बार नन्दन भी एक सप्ताह की छुट्टी लेकर यहाँ आ चुका था और स्वयम् अपने अग्रज की सेवा-शुश्रूषा करता रहा था। लेकिन उस समय श्यामा के पति की तबियत में काफी सुधार आने लगा था। अतः नन्दन अपनी नौकरी पर वापस चला गया और अग्रज की देख-रेख का भार पंकज को सौंप गया।

पंकज प्रति दिन अपनी भाभी के घर जाता और यथासम्भव उनकी पूरी-पूरी सेवा करता। डाक्टर के यहाँ से दवा भी पंकज स्वयम् लाता और इस प्रकार अपने कर्तव्य का पालन किये जाता।

पकज की भाभी का घर भी इसके बँगले से कुछ बहुत दूर नहीं था। इसलिए दिन में एकाध बार पंकज की पत्नी भी श्यामा के घर चली जाती और उसे सान्त्वना दे आती।

लेकिन अनेक उपचारों के बावजूद भी जब श्यामा के पति की हालत में कोई सुधार नहीं हुआ और मर्ज बढ़ता ही गया, तब श्यामा की अन्यमनस्कता दिन पर दिन बढ़ने लगी। उसके मस्तिष्क में दुश्चिन्ताओं और दुर्भावनाओं की लहरें उठने लगीं। और उसकी समस्त आशाएँ जैसे पत्थर बनने लगीं।

अब श्यामा को भी उसी पीपल के पेड़ के नीचे बैठे रहने वाले देवता की आराधना करनी पड़ी और अपने देवता—स्वामी—के स्वास्थ्यलाभ की भीख माँगनी पड़ी। यों तो श्यामा पहले भी इन देवता के दर्शन करने जाती थी और जब-तब पूजा-अर्चा भी कर आती थी। लेकिन अब वह नियमपूर्वक देवता के दर्शन करने सुबह-शाम दोनों वक्त जाती, कुछ पान-प्रसाद और भेंट चढ़ाती एवम् पति की मंगल-कामना करती। लेकिन देवता की इस घनी आराधना से

भी उसके पति की हालत में कोई सुधार नजर नहीं आया—शायद देवता ने श्यामा को भीख नहीं दी।

श्यामा की इस आराधना की बात पंकज से छिपी नहीं रही और उसने अपनी इस भाभी को जैसे दो एक बार इसी प्रसंग को लेकर छेड़ना भी चाहा; किन्तु यह सोच कर कि कहीं भाभी उसका कोई उलटा ही अर्थ न लगाने लगें। उसने ऐसा कभी किया नहीं!

आज जब भाभी का सन्देसा पाकर वह डाक्टर को लेकर उसी पीपल के पेड़ के पास से निकला, तब देवता को देखकर ये तमाम बातें उसके दिल में एक ज्वर की तरह उफना उठीं और जैसे देवता के प्रति उसे कुछ विद्रोही भी बना बैठीं!

श्यामा के पति को देखकर डाक्टर का मुख जिस तरह विवर्ण हो उठा और उसने अँगरेजी में पंकज से जो कुछ कहा, उससे पंकज का हृदय एक बार काँप तो जरूर गया, परन्तु वह निराश नहीं हुआ। अपनी भाभी का धैर्य बँधाते हुए उसने कहा—"हालत नाजुक जरूर है, लेकिन घबड़ाने की इसलिए जरूरत नहीं कि डाक्टर अपनी पूरी ताक़त लगाकर रोग पर विजय पाने की उम्मीद रखते हैं।"

"हालत नाजुक है"—श्यामा ने एक लम्बी-सी साँस छोड़ी और बरसती हुई आँखों को आँचल के एक छोर से पोंछते हुए कहा—"तो देवता की आराधना का कोई फल नहीं मिला—शायद मिलेगा भी नहीं।"

"यह क्या कहती हो भाभी!"—पंकज ने कहा—"और तुम रोती हो! छिः छिः! इससे भाई साहब के दिल पर क्या बीतेगी, यह भी विचारती हो या नहीं?"

"मैं तो बहुत कोशिश करती हूँ"—श्यामा ने पंकज की ओर देखते हुए कहा—"लेकिन जाने क्यों मुझे ऐसा लगता है कि देवता ने मुझे भीख नहीं दी और इसीलिए हृदय का बाँध टूटता-सा जाता है।"

यह तो मैं बिलकुल नहीं जानता भाभी"—पंकज ने शायद परिस्थिति का ध्यान न रखते हुए अपने दिल की सहज स्वाभाविक आवाज में कहा—"कि देवता हम लोगों की आराधना से प्रसन्न भी होते हैं या नहीं।" लेकिन दूसरे ही क्षण भाभी की डाँवाडोल दशा का ध्यान उसे आ गया और फ़ौरन जैसे बात सँभाल ली—"परन्तु भाभी, जब तुमने देवता से भीख माँगी ही है, तो यह भी यकीन रखो कि वह तुम्हें मिलेगी भी।"

श्यामा कुछ कहने वाली ही थी कि उसके पतिका श्वास काफ़ी जोर से घड़घड़ाने लगा। अतः श्यामा फ़ौरन उन्हें दवा पिलाने और उनके मस्तक पर अपना हाथ फेरने लगी।

वह रात ठीक दीवाली की रात की तरह श्यामा और पंकज ने जाग कर काटी और श्यामा के पति के सिरहाने बैठे रहकर दोनों ने उनकी पूरी-पूरी सम्भाल की। लेकिन दुनिया में जब प्रभात हो रहा था, तब श्यामा के भाग्याकाश में निविड़ अन्धकार की काली छाया अपना पंजा फैला चुकी थी—श्यामा के जीवन-देवता को नियति सदा के लिए उससे छीन चुकी थी।

\+ \+ \+ ×

और उसी पीपल के पेड़ के नीचे जब पंकज की भाभी की चूड़ियाँ फोड़ी जा रही थीं और उसके हृदयविदारक चीत्कार से दसों दिशाएँ फटी जा रही थीं, तब पंकज ने गीली आँखों और भरे हृदय से देखा कि जिस देवता की आराधना करने में उसकी भाभी ने कभी कोई कमी नहीं आने दी, वह देवता उसकी भाभी के देवता के निधन पर भी सदा की भाँति प्रसन्न दीख रहा है!

और दुनिया इतने पर भी यही कहती है कि हमारे दुख-दर्द मिटाने और हमें सुखी बनाने में यदि कोई शक्ति काम करती है तो वह है वही देवता!

———

कुरबानी

कल बकरीद है !

दारोगा अब्बासअली आज ही देहात से लौटे हैं। वे अपने बँगले के बरामदे में एक पुरानी-सी आराम-कुरसी पर लेटे हुए थे। बग़ल में एक स्टूल पर हुक्का रखा हुआ था। उसकी सटक उनके हाथ में थी। पर दारोगा साहब गुमसुम थे। चेहरे के उतार-चढ़ाव से मालूम होता था, जैसे वे किसी गहरी चिन्ता में डूबे हुए हैं, मन में जैसे विचारों का तूफ़ान उठ रहा है।

एकदम हुक्का गुड़गुड़ा उठा, पर चिलम ख़ामोश रही, उसने धुआँ नहीं छोड़ा। "ओफ़-ओ ! जरा सी बात पर सोच-विचार करते कितनी देर हो गयी। हुक्का तक ठंडा हो गया"—कहते हुए दारोगा साहब ने अपने चारों तरफ़ नजर घुमायी।

"साला एक ही पाजी नौकर है। कम्बख्त घड़ी-भर भी यहाँ नहीं बैठ सकता"—बड़बड़ाते हुए दारोगा साहब कर्कश स्वर में पुकार उठे—"छोटा ! अरे छोटा !"

"जी हुजूर !" अधेड़ उमर का एक आदमी मैले-कुचैले कपड़े पहने दारोगा साहब के सामने आकर खड़ा हो गया।

"बेवकूफ़ ! जब देखो, तब लापरवाही। काम-काज की कुछ फ़िकर ही नहीं रखता। जा, चिलम में आग रख ला"—दारोगा साहब ने झिड़कते हुए ग़रीब छोटा को हुक्म दिया।

छोटा चिलम लेकर चलने लगा। दारोग़ा साहब ने उसे रोक कर कहा—"और सुन, रहमत को जल्दी बुला ला। कहना, दारोग़ा साहब ने फ़ौरन बुलाया है। बड़ा ज़रूरी काम है।"

छोटा चिलम गरम कर, हुक्के पर रख, रहमत को बुलाने चला गया। दारोग़ा साहब एक क्षण हुक्के को गुड़गुड़ाते और दूसरे क्षण मुँह से धुएँ के गुब्बारे छोड़ते हुए, फिर सोच-विचार में डूब गये।

पाँच मिनट बाद ही रहमतबेग आता दिखायी दिया। दारोग़ा साहब और भी मज़े से कुरसी तोड़ने लगे। रहमत उन्हें बाक़ायदा सलाम कर एक तरफ़ खड़ा हो गया—बुत के समान। रंग आबनूस को मात करने वाला, शकल कोयलों-जैसी, कपड़े साफ़-सुथरे।

"रहमत, कल बकरीद है!"

"जी हुज़ूर।"

"तुमने क़ुरबानी के लिए कुछ इन्तज़ाम किया है?"

रहमत एकदम अनजान, भोला-भाला और सीधा बन गया। बोला—"मैं थोड़ी-सी तनख्वाह पाने वाला ग़रीब सिपाही! भला, मैं क़ुरबानी के लिए क्या इन्तज़ाम करूँगा हुज़ूर!"

दारोग़ा साहब के ओठों पर मुस्कराहट आ गयी। बोले—"तुमने मेरा मतलब नहीं समझा, रहमत! मैं पूछ रहा हूँ, तुमने मेरे लिए कुछ इन्तज़ाम किया है?"

"ख़ता माफ़ हो। मुझे मालूम नहीं था कि हुज़ूर क़ुरबानी करेंगे। मालूम होता, तो यह गुलाम आनन-फ़ानन, एक तो क्या, पचास क़ुरबानियों का बन्दोबस्त कर डालता। आज ही देहात से लौटे आ रहे हैं। हुज़ूर ने ही इशारा कर दिया होता, तो वह-वह बछड़े—वह वह गाएँ खदेड़ लाता कि देखने वालों की तबियत तर हो जाती! इस देहात में किसकी मजाल है, जो हुज़ूर के नाम पर, इस कारे-सवाब के लिए रहमतबेग के सामने 'नहीं' का लफ्ज़ कह सके?" कहते-कहते रहमत का माथा अभिमान के ज़ार से आप ही आप ऊँचा हो गया।

रहमत का दावा कुछ झूठ न था, क्योंकि वह कोई मामूली आदमी तो था नहीं! अव्वल तो वह पुलिस का कान्स्टेबिल ठहरा, दोयम दारोगा साहब का अर्दली!

दारोगा साहब अपनी देहात में नवाब साहब के प्यारे बेटे से कम रुतबा नहीं रखते। फिर उनके अर्दली का तो कहना ही क्या? अपने मालिक की ख़िदमत के लिए – उसकी खुशी के खातिर वह सब कुछ कर सकता है। उसके इस पाक-साफ़ काम में खलल पहुँचाने का किसी को हक़ नहीं है। और अगर कोई यह बेजा हरकत करेगा, तो उस पर फ़ौरन क़यामत बरपा हो जायगी!

फिर आदमी की तो क्या चली, ख़ास अल्लाह मियाँ भी चाहें, तो उसे नहीं बचा सकते! नहीं बचा सकते! एक मर्तबा नहीं, पचासों मर्तबा यह बात क़ानूनन साबित हो चुकी है!

खैर, दारोगा साहब को शायद रहमत की बात जँची नहीं, बोले— "कैसे अर्दली हो भई। मैं कहता, तब तो तुम सब कुछ कर डालते, और मैं न कहूँ, तो भी न करोगे? वाह! मुझे तो मरने तक की फ़ुरसत न थी। तहक़ीकात पर तहक़ीकात! क़तल! डाका! नक़ब। सभी कम्बख़्त एकबारगी फट पड़े! ऐसी हालत में कौन-कौन सी बात याद रखता। एकाध अच्छा सा बकरा ही तलाश कर रखते! अब यहाँ पैसे ख़र्च होंगे या नहीं? और आफ़त यह कि जल्दी-जल्दी में ड्योढ़े-दूने दाम दो—फिर चीज़ मन की न मिले!"

"अब तो ग़लती हो गयी हुज़ूर", – कह कर रहमत ने इस तरह सिर लटकाया, इस तरह मुँह बनाया, जैसे उसने सचमुच एक बड़ी ग़लती कर डाली हो, और उस पर उसे दिली सदमा हो रहा हो!

फिर बोला –"पर कुछ हर्ज नहीं हुज़ूर, अब भी मेरी नज़रों में एक अच्छा बकरा है। देखने में ठीक मस्त बछड़े के माफ़िक़! आप देखेंगे तो तबियत खुश हो जायगी। सस्ता भी खूब मिल जायगा।"

मारे खुशी के दारोगा साहब की आँखें चमक उठीं। उठ कर बैठ गये! बोले—"अच्छा, किसके पास है बकरा? कितने तक में मिल जायगा?"

'छोटे मुंशी आरज़ू साहब हैं न! उन्हीं के पास वह बकरा है। बाजार में पन्द्रह रुपये से कम में न मिलेगा, पर आप उन्हें जो दे देंगे, वही उन्हें मंजूर करना पड़ेगा'—रहमत ने जवाब दिया।

"तब ठीक है। तुम जाकर आरज़ू को बुला लाओ। इस काम को खतम कर डालना ही ठीक है।"

दारोगा साहब का हुक्म पाते ही रहमत थाने में जा पहुँचा। उस समय आरज़ू डेक्स पर झुका हुआ था। उसकी क़लम सपाटे से रोजनामचे पर दौड़ रही थी। रहमत एकदम हुकूमत की आवाज में बोला—"मुंशी जी आपको दारोगा साहब याद फ़रमा रहे हैं। अभी बुलाया है।"

दारोगा साहब के अर्दली की आवाज सुन कर बेचारा मुन्शी चौंक उठा। रोजनामचा एक तरफ सरका कर उसने सिर ऊपर उठाया। एक नजर रहमत के चेहरे पर डाली। फिर उससे पूछा—"रहमत हुजूर ने किस लिए इतनी जल्दी बुलाया है?"

रहमत मुस्कराया। फिर बोला—"वहीं चल कर सुन लेना।"

आरज़ू घबरा उठा। घबराने की बात ही थी। 'दारोगा साहब ने एकाएक बुलाया है। और सो भी अपने बँगले पर! उन्होंने और तो कभी इस तरह नहीं बुलाया था। आज कौन सा ऐसा संगीन मामला आ पड़ा, जो उन्होंने मुझे इस तरह बुलाया?' आदि बातें सोचता आरज़ू रहमत के साथ हो लिया। पैर उठाते-उठाते उसने फिर रहमत से पूछा—आखिर भाई, बतलाओ मामला क्या है?"

इधर उधर नजर दौड़ा कर रहमत ने जवाब दिया—"मुंशी जी, क्या बतलाऊँ आप तो जानते ही हैं। यह साला दारोगा नहीं पाजी

है ! बदमाश है ! शैतान है ! लोगों को परेशान करने के लिए उसके दिमाग़ में न जाने कितने मसाले भरे पड़े हैं । उसकी.........!''

आरज़ू और भी घबरा उठा, बोला—"भाई, मैंने तो कोई कसूर नहीं किया । अपने काम से काम रखता हूँ ।......"

"सुनिये तो"—रहमत ने कहा—"आपका यह ख्याल गलत है । उसकी नज़र आपके बकरे पर पड़ गयी है । वह उसे पसन्द आ गया है । कल बकरीद है । वह सोच रहा है, अगर यह बकरा मिल जाय तो..."

आरज़ू का मुँह उतर गया ! बेचारा भर्राये हुए गले से बोला—"आह ! यह तो बड़ी मुसीबत का सामना है । रहमत, तुम तो मेरे पड़ोसी हो । तुम्हें खूब मालूम है, मेरा बच्चा..."

रहमत ने बात काट कर कहा—"मुंशी जी, आप यह न कहें । मुझ से आपकी कोई बात नहीं छिपी है । मैंने उस बादमाश से कई बार कहा कि आप मुंशी जी पर रहम कीजिये । गाँव में बकरों की कमी नहीं है । मैं आप को अच्छे से अच्छा बकरा ला दूँगा । पर वह माने, तब न ! और ज्यादा कह भी नहीं सकता, अफ़सरी और मातहती का वास्ता ठहरा ।"

ये बातें रहमत ने इस लहजे में कहीं, गोया उसके दिल में हमदर्दी का दरिया लहरें मार रहा हो !

खैर, आरज़ू दारोग़ा साहब के सामने जाकर खड़ा हो गया । उसका जी घबरा रहा था । माथा घूम रहा था । गला सूखा जा रहा था । आँखें डबडबा रही थीं और वे दारोग़ा साहब की ओर इस तरह देख रही थीं, जैसे उनके हृदय में छिपी हुई दया को ढूँढ रही हों ।

जब दारोग़ा साहब ने उससे पूछा—"मुंशी जी, तुम अपना बकरा बेचोगे ?"

तब वह एकबारगी चीख उठा—"हुज़ूर ! रहम ! रहम !"

दारोग़ा साहब ने अचरजभरी आँखों से आरज़ू को देखा और फिर पूछा—"इसके क्या मानी ?"

आरज़ू ने हाथ जोड़ कर जवाब दिया—"हुज़ूर ! मैं एक मुसीबत-ज़दा आदमी हूँ ! आज तक मेरे आठ बच्चे फ़ौत हो चुके हैं। ख़ुदा के फ़ज़लोकरम से केवल यही एक बच्चा बच रहा है, जो इस बूढ़े की बाक़ी ज़िन्दगी का सहारा है। यह बकरा मेरे उस बच्चे का प्यारा खिलौना है। उसने इस बकरे पर ऐसी मुहब्बत की है कि कोई अपने मा जाये भाई पर भी न रखेगा। ज्यादा क्या कहूँ, उसने अपने मुँह का निवाला खिला कर इस बकरे को पाला है। मेरी आप से यही अर्ज़ है कि आप मेरे बच्चे पर रहम करें। उससे उसका खिलौना न छीनें, नहीं तो वह रो-रो कर घर सिर पर उठा लेगा और कलप-कलप कर अपनी जान खो देगा।"

आरज़ू की आँखों से आँसुओं की चन्द लड़ियाँ निकलीं जो उसकी खिचड़ी दाढ़ी को चूमती हुई पत्थर के कड़े फ़र्श पर जा गिरीं, और गिरते ही छार-छार हो गयीं। पर दारोग़ा साहब, 'हा! हा!', करते हँस पड़े। बोले—"वाह मुंशी जी! वाह! वाह! तुम भी खूब मुसलमान हो! मैं तुमसे बकरा मुफ्त नहीं लेता! फिर भी तुम इस कारे-सवाब के लिए देना मंज़ूर नहीं करते!"

आरज़ू ने आँखें पोंछते हुए जवाब दिया—"हुज़ूर, कारे-सवाब के लिए तो मैं अपनी जान दे सकता हूँ, पर उस नादान बच्चे का दिल कैसे तोड़ूँ, जो मेरे घर का चिराग़ और दो प्राणियों की आँखों का उजाला है? जब वह बकरे को खोकर फूट-फूट कर रोयेगा, तो मैं उसे क्या कह कर समझाऊँगा कि बेटा, तुम्हारा खिलौना कारे-सवाब पर क़ुरबान कर दिया गया है, और इसके लिए तुम्हें रोना नहीं, हँसना चाहिए। हुज़ूर भी बाल-बच्चे वाले हैं, मेरे नन्हें से बच्चे के सदमे का ख़्याल कर उस पर रहम करें। आपका यह एहसान क़ब्र में भी न भूलूँगा।"

पर दारोग़ा साहब तो दारोग़ा साहब ही थे। बिगड़ उठे—"तुम आदमी हो, या अहमक़? बच्चे तो मिट्टी के खिलौने के लिए भी

तीन-तूफ़ान मचाते हैं, पर जब वह उन्हीं के हाथ से गिर कर टूट-फूट जाता है, तब थोड़ी देर चिल्ल-पों मचा कर हमेशा के लिए उसकी याद भूल जाते हैं। बच्चों के चीखने-चिल्लाने का मतलब ही क्या ? जब तुम्हारा अहमद बकरे के लिए रोये, तो थोड़ी सी मिठाई देकर समझा देना। फिर भी न माने, तो दो चपतें रसीद कर देना। बकरे का नाम भी न लेगा। समझे ! अब तुम जाओ, फ़ौरन बकरा ले आओ। मैं तुम्हारी एक भी न सुनूँगा। रहमत, तुम भी इनके साथ चले जाओ। इन्हें या इनके बच्चे को बकरा लाते हुए ज्यादा पसोपेश हो, तो तुम उसे पकड़ लाना।"

रास्ते में रहमत ने कहा,—"देखा मुंशीजी आपने, साला कितना जालिम है ! रहम तो छूकर भी नहीं निकला है ! आपने कितनी अर्ज़-मारूज की, पर वह न पसीजा, न पसीजा !"

आरज़ू का हृदय भर रहा था। एक 'आह' के सिवा बेचारा कुछ न कह सका ! सदमे ने उसके गले को जकड़ लिया था !

बकरा पुलिस-लाइन के सामने वाले खुले मैदान में मस्ती से हरी-हरी दूब चर रहा था। सामने आते हुए आरज़ू पर उसकी नजर पड़ी। चरना छोड़ कर वह आरज़ू की ओर ठुमकता हुआ दौड़ा। पास आते ही उसके पैरों से—हाथों से—सिर रगड़-रगड़ कर वह बेजबान अपने हृदय में छिपी हुई मुहब्बत जाहिर करने लगा !

वह रोज ऐसा ही करता था, और आरज़ू उसके शरीर पर दो-चार बार हाथ फेरकर घर में चला जाता था। पर उसकी आज की इस हरकत ने आरज़ू के कलेजे को मसल डाला। आज उसने बकरे पर प्यार नहीं किया।

"आह पीरा ! तू क्यों मेरे यहाँ पैदा हुआ था ! तुझे मालूम नहीं है, आज तेरी जिन्दगी के दिन खतम हो गये हैं। बेटा, अब अपनी यह मुहब्बत अपने ही साथ लेता जा।"......

"रहमत, तुम्हीं इसे ले जाओ, पर देखो, मेरे अहमद को यह हाल न मालूम होने पावे। भाई, तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ, मेरी इस अर्ज का ख़याल रखना।"

आरज़ू का वह उतरा हुआ चेहरा! उसकी वह डबडबायी हुई आँखें! उसका वह भरा हुआ गला—सबने रहमत की न-जाने किस धातु की बनी हुई छाती पर गहरा असर डाला! उसने बकरे का कान पकड़ा। उसे लेकर वह चला। पर उसकी आँखों में वह चमक न थी। चेहरे पर वह मुस्कराहट न थी। चाल में भी वह तेज़ी न थी। वह ऐसे जा रहा था जैसे कुछ सोच रहा हो!

रहमत अभी दारोग़ा साहब के बँगले से कुछ फ़ासले पर ही था कि उसे सामने से बग़ल में छोटा-सा बस्ता दाबे हुए अहमद आता दिखायी दिया। उसे देखते ही बकरा एकदम "में-में" चीख़ उठा, और छूटने के लिए तड़फड़ाने लगा, ठीक वैसे ही जैसे देर से बिछुड़ी हुई मा को देखकर छोटा-सा बच्चा 'मा-मा' पुकार उठता है और उससे लिपटने के लिए व्याकुल हो जाता है!

अहमद ने दौड़कर बकरे की पीठ पर हाथ फेरा और रहमत से कहा—"चचा, मेरे पीरा को कहाँ लिए जाते हो? छोड़ दो। मैं स्कूल से आ गया हूँ। अब इसके साथ खेलूँगा।"

रहमत ने कुछ जवाब नहीं दिया। वह बकरे को पकड़े हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया। नन्हा-सा अहमद भी—"चचा, मेरे पीरा को छोड़ दो! चचा, मेरे पीरा को छोड़ दो,"—कहता हुआ, उसके पीछे-पीछे चला।

पहले उसके स्वर में स्वाभाविकता थी, फिर क्रोध आया और बाद में करुणा आयी; परन्तु रहमत चुपचाप अपना काम किये जा रहा था।

दारोग़ा साहब ने पीरा को देखा। घड़े-जैसा सिर, ऐंठे हुए लम्बे-लम्बे सींग, छै इंच से भी अधिक लम्बी दाढ़ी, भरी हुई गरदन, काफ़ी

से भी अधिक ऊँचा थल-थल शरीर, मोटे पैर, खूब चमकता हुआ गहरा काला रंग !

दारोग़ा साहब की तबियत बाग़-बाग़ हो गयी। बोले—"रहमत, चीज़ तो तुमने बढ़िया तलाशी। कोई हर्ज नहीं जो चार-छै रुपये खर्च हो जायँगे। अच्छा, इसे ले जाकर अस्तबल में बाँध दो।"

रहमत दारोग़ा साहब की आज्ञा का पालन कर चुपचाप चला गया।

"मेरा पीरा! मेरा पीरा!" अहमद फूट-फूटकर रोने लगा। फिर दारोग़ा साहब के सामने जाकर बोला—"चचा, मेरे पीरा को छोड़ दो।"

दारोग़ा साहब ने मनीबेग खोल कर चार पैसे निकाले। अहमद की हथेली पर रखकर कहा—"ये पैसे ले जाओ, मिठाई खाना। पीरा को मैंने तुम्हारे अब्बा से ख़रीद लिया है। अब वह तुम्हें न मिलेगा।"

अहमद ने पैसे फेंक दिये। वह दारोग़ा साहब के पैरों से लिपट गया—"मुझे तुम्हारे पैसे नहीं चाहिए। मेरा पीरा मुझे दे दो।"

दारोग़ा साहब को ग़ुस्सा आ गया। उन्होंने जोर से अहमद का कान मल दिया। बेचारा बालक तिलमिला उठा। भागकर बरामदे से बाहर निकल आया। अब वह कभी अस्तबल के सामने जाकर खड़ा होता था और कभी बरामदे के और हृदय-वेधक आवाज में चिल्लाता था—"मेरा पीरा! मेरा पीरा!"

उधर अस्तबल में बन्द पीरा भी वेदना से तड़प रहा था, और बार-बार 'में-में!' कहकर अहमद को पुकारता था। उसकी एक-एक आवाज़ अहमद के हृदय को अपनी ओर खींचती थी, और अहमद रह-रहकर चीख़ता था—मेरा पीरा!"

दारोग़ा साहब इस कोहराम से परेशान से हो उठे। उन्होंने गरजकर छोटा को हुक्म दिया—" अबे उल्लू के पिल्ले! उस कम्बख़्त

आरज़ू को ख़बर कर दे। अपने बाप को उठा ले जाय नहीं तो मारे हन्टरों के मैं उसकी चमड़ी उधेड़ दूँगा।"

बेचारा आरज़ू आया। उसे देखते ही अहमद डीक मारकर उसके पैरों से लिपट गया। चारों ओर हवा में एक करुण चीत्कार गूँज उठा—"अब्बा! मेरा पीरा! मेरा पीरा!"

आरज़ू ने कड़ा जी करके कहा—"बेटा, घर चलो। पीरा की उम्मीद हमेशा के लिए छोड़ दो।"

बालक मचल गया। 'पीरा! पीरा!' कहकर वह धूल में लेट गया। आरज़ू ने पुचकार कर उसे उठाया और गोद में लेकर घर का रास्ता लिया। आरज़ू की आँखों से टप-टप आँसू गिरते जाते थे और अहमद चिल्लाता जाता था—"मेरा पीरा! मेरा पीरा!"

घर पहुँचने पर अहमद का हाल और भी बुरा हो गया। वह ज़मीन पर यहाँ से वहाँ तक लोटता था और पुकारता था—"मेरा पीरा! मेरा पीरा!"

मा-बाप उसे समझाते थे, पुचकारते थे, गोद में उठाते, पर वह एक ही सदा लगाता था—"मेरा पीरा! मेरा पीरा।"

मा गोद में लेकर कहती थी—"मेरे लाल, रोओ मत! पीरा चला गया है, तो चला जाने दो। मैं तुम्हें उससे भी अच्छे बहुत से बकरे मँगवा दूँगी। तुम उनके साथ खेलना।"

पर वह एक नहीं सुनता था। हरबार यही कहता था—"मुझे मेरा पीरा दिलवा दो।"

अहमद घंटों रोता रहा। उसने कुछ न खाया, न पिया। बच्चे की यह हालत देख मा-बाप भी कुछ न खा-पी सके। अन्त में रोते-रोते अहमद थक गया और थक कर सो गया।

परन्तु बेचारा बालक चैन से सो भी न सका। वह सपने में पीरा को ही देखता था और उसी के साथ खेलता था। जब पीरा उसके हाथ से छुट जाता, 'पीरा! पीरा!' कहकर चौंक उठता था!

ऐसी हालत में मा-बाप भला कैसे सो सकते थे ? बेचारे चुपचाप आँसू बहाते और अपनी किस्मत को कोसते थे।

पिछली रात में अहमद का अंग तप आया। सवेरा होते-होते बेचारे को जोरों के बुखार ने जकड़ लिया! जब अहमद की आँख खुली, तब उसने पूछा—"अम्मा, मेरा पीरा कहाँ है ?"

मा बेचारी क्या जवाब देती! उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। उसे रोती देख अहमद बोला—"अम्मा, रोओ मत! मुझे याद आ गयी। मेरे पीरा को उस दारोगा ने पकड़ लिया है। अब मैं उसके लिए नहीं रोऊँगा। तुम भी मत रोओ अम्मा!"

बालक बेहोश हो गया।

आरजू की बीबी ने आरजू से कहा—"न हो, एक बार उस जालिम के पास चले जाओ। कहना मेरे बच्चे की जान बख्श दे।"

आरजू ने जवाब दिया—"अहमद की अम्मा, उस जालिम से कुछ उम्मीद न रखो। पर तुम कहती हो तो मैं उसके पास जाता हूँ। रोऊँगा, गिड़गिड़ाऊँगा. शायद पसीज उठे।"

आरजू दारोगा साहब के पास गया। उसने उनके पैरों पर सिर रख दिया। आँखों से आँसू बहाते हुए अर्ज की—"हुजूर, मेरे बच्चे के हाल पर रहम कीजिये। मैं झूठ नहीं कहता। आप चल कर देख लीजिये। अब मेरा बच्चा आपकी ही महरबानी से बच सकता है।"

पर सत्ता का अभिमान बेकसों की आहों पर कब पिघलता है ? आरजू बिलकुल हताश होकर लौट आया!

सब मुसलमानों के यहाँ ख़ुशियाँ मनायी जा रही थीं, पर बेचारे आरजू के घर में मातम के बादल छा रहे थे। उसने न नहाया. न नये कपड़े पहने। ग़रीब ईदगाह भी न गया। एक तरफ़ गहरी उदासी के आलम में बैठा रहा!

अहमद का हाल अच्छा न था। बुखार क्षण-क्षण पर तेज होता जाता था। एकाएक उसने आँखें खोलीं। मा से पूछा—"अम्मा दारोगा

साहब ने मेरे पीरा को क्यों पकड़ लिया? उसने उनका तो कुछ नुकसान नहीं किया था।"

भोली-भाली मा बच्चे को क्या कह कर समझाती। उसने साफ़ बात कह दी—"बुटा, आज बकरीद है। दारोगा साहब तुम्हारे पीरा की .कुरबानी करेंगे।"

"अच्छा तो मेरा पीरा मारा जायगा। आह! तब तो बेचारे को बड़ी तकलीफ होगी। अम्मा लोगों को ऐसा करने में क्या मजा मिलता है? लोग .कुरबानी क्यों करते हैं?"—कहते-कहते अहमद की आँखें भर आयीं।

"बेटा, .कुरबानी करने से अल्लामियाँ .खुश होते हैं"—मा ने सहज भाव से जवाब दिया।

"अम्मा! ज़ान मारने से अल्लामियाँ .खुश होते हैं! यह कैसी बात है? अगर तुम मुझे मार डालो, तब तो अल्लामियाँ और भी .खुश होंगे! क्यों अम्मा!"—आँसू बहाते हुए अहमद ने कहा।

मा ने बेटे को कसकर छाती से लगा लिया। उसके माथे पर हाथ फेरते हुए बोली—"बेटा, ऐसा न कहो। तुम मेरी आँखों के तारे हो। भला, मैं तुम्हें मारूँगी?"

बच्चा चुप हो रहा। न जाने उस समय क्या सोच रहा था?

इसी समय दारोगा साहब का नौकर छोटा आया। उसने थाल पर का कपड़ा हटाकर एक रान निकाली। उसे देखकर आरज़ू की आँखों से आँसू बहने लगे, पर .कुरबानी का तबरुक समझ उसने उस मास-पिंड का अपमान नहीं किया। बेचारे में यह साहस भी नहीं था कि दारोगा साहब का भेजा हुआ तबरुक वापिस कर देता! अतः वह रान भीतर ले आया।

रान पर अहमद की नजर पड़ी। बालक सब-कुछ समझ गया। एक ठंडी साँस खींचकर बोला—"आह! मेरा पीरा खतम हो गया! अब मैं

उसे कहाँ पाऊँगा ! अम्मा, मैंने अपने पीरा को खो दिया। अब उसे पाने के लिए मैं कहाँ जाऊँ ?"

इसके बाद वह एक बारगी चिल्ला उठा—"मेरा पीरा ! मेरा पीरा !" और फिर उसने आँखें बन्द कर लीं !

थोड़ी-देर बाद अहमद एकाएक चौंक पड़ा—"अहा ! पीरा, तू इतनी देर से कहाँ था ? कब से तुझे ढूँढ़ रहा हूँ। ले, अब मैं भी आ पहुँचा। अब मुझसे तुझे कोई न छीन सकेगा !"

मा ने घबरा कर अहमद का शरीर टटोला। फिर पति को बुला कर कहा—"देखो, तो अहमद का जी अच्छा नहीं है। सारा बदन गरम तवे के समान जल रहा है।"

आरज़ू ने अहमद के शरीर पर हाथ रखा। पत्नी का कहना सच था। बोला—"उफ़ ! बहुत जोर का बुखार है ! क्या करूँ ? डाक्टर को बुला लाऊँ ?"

"जैसा तुम समझो"—कह कर पत्नी चुप हो गयी।

आरज़ू डाक्टर को बुला लाया। डाक्टर ने बच्चे की नब्ज़ टटोली। फिर थर्मामीटर लगाया। देखा, तो बुख़ार १०४ डिग्री से आगे निकल गया था ! उसने निराशा से आरज़ू की ओर देख कर कहा—"मुंशी जी; अब तक क्या करते रहे ? बच्चे की यह हालत हो गयी और तुमने मुझे ख़बर भी न दी ! ख़ैर, चलो मैं दवा देता हूँ।"

आरज़ू डाक्टर के साथ दवा लेने चला गया। दस मिनट बाद ही दवा लेकर लौटा। एकाएक उसके कानों में रोने की आवाज़ आयी—"अरे बेटा ! तू मुझे छोड़ कर कहाँ चला गया ! हाय !"

आरज़ू के पैरों में तूफ़ान आ गया। वह लपक कर घर में घुसा। देखा, तो पंछी उड़ गया था ! ख़ाली पींजरा पड़ा है ! और बच्चे की मा सिर धुन रही है !

उसके हाथ से दवा की शीशी गिर पड़ी !

बच्चों की माँ

मेरे यहाँ की लड़की बेला आज स्कूल नहीं गयी।

मैंने पूछा—"क्यों ?"

छलछलायी आँखों से वह नीची नजर किये खड़ी रही। उसकी करुणापूर्ण मुद्रा से मेरा भी जी भर आया, और सोचा "जाय भी! एक दिन स्कूल नहीं गयी तो क्या हुआ ? आखिर कुल सात ही वर्ष की तो है !'

लेकिन दुपहर को नौकर मेरे कमरे में शिकायत लेकर आया। बोला—"देखो बहू जी, बेला नहीं मानती है।"

मैंने कहा—"क्या कहती है ?"

कहती है—"भंडार घर की चाबी दो। घी, शक्कर और मैदा निकाल लूँ।"

मुझे गुस्से के साथ हँसी भी आयी। सात साल की मेरी बेला कौन सा पकवान बनायेगी! जानने के कौतूहल से मैंने कहा—"उसे मेरे पास बुला ला। पूछूँ तो सही, क्या बात है ?"

बेला चुपचाप द्वार के बाहर खड़ी सुन रही थी। अब साहस के साथ आगे बढ़ आयी। बोली—"देखो मा, मोहना चाबी नहीं देता।"

मैंने कहा—"मेरे हुक्म के बिना तुझे चाबी दे कैसे ? लेकिन घी, शक्कर और मैदा लेकर करेगी क्या ?"

बेला ने नीची आँखें कर लीं। बोली—"लड्डू बनाऊँगी।"

जबरन मैंने हँसी रोकी। बोली—"अरी, तेरे बनाये लड्डू खायगा कौन? लड्डू बनाने का तरीका तुझे मालूम है? फिर घी में तू जल न मरेगी?"

बेला चुप!

मैंने नौकर से कहा—"अच्छा, जा मोहन, चूल्हे में आग परचा दे। बेला का जी लड्डू खाने को करता है। चल कर मैं ही बनाये देती हूँ।"

और बेला एकाएक व्याकुल, बाँह पसारे, मोहन के जाने का रास्ता रोक कर खड़ी हो गयी। फिर करुण आतुरता से टूट कर बोली—"नहीं, नहीं, मा! मेरे खाने को लड्डू नहीं चाहिए।"

मैंने साश्चर्य कहा—"तब?"

"मैं अपने बच्चों के लिए आप लड्डू बना लूँगी। तुम सिर्फ इससे चाबी दिलवा दो।"

मैं और मोहन दोनों अवाक्!

बेला ने मेरा हाथ पकड़ा और दालान में खींच लायी।

दालान की दीवार पर खूँटी से टँगा न जाने कब का पुराना छाता हम सब की नजरों से निरर्थक हो पड़ा था। बेला उसी को दिखा कर बोली—"उसमें चिड़ियों के तीन बच्चे हैं। मैं आटे की छोटी-छोटी गोलियाँ बनाकर इस ताक में रख देती हूँ। चिड़ियाँ चुन-चुन कर बच्चों को खिलाती हैं।"

मेरे आश्चर्य का पार न रहा। सात साल की लड़की के हृदय में यह मातृ-भाव कैसे जाग उठा!

मैंने कहा—"तब आटे की गोलियाँ ही तो ठीक हैं। घी और शक्कर की जरूरत ही क्या?"

बेला सकुचाते हुए बोली—"घी खाने से बच्चे जल्द तैयार हो जाँयगे और मीठा कर देने से उन्हें स्वाद भी अच्छा लगेगा।"

यह और भी आश्चर्य-चकित कर देने वाली बात थी।

खैर, बच्चों का पालन-पोषण प्रायः पन्द्रह दिनों तक खूब चला। बेला ने शाम-सुबह का घूमना छोड़ा। साथ सहेलियों से मिलना छोड़ा, अनन्य मातृत्व ने उसके हृदय में जग कर उसे परम गम्भीर बना दिया!

मैंने एक रोज़ कुरसी पर चढ़ कर देखा—नरम रोंए से फूले-फूले तीन बच्चे! मोटे! मोटे! ख़ुश मिज़ाज!

मैंने कहा—"बेला, अब तेरे बच्चे दो तीन रोज में फुर्र से उड़ जाँयगे!"

बेला कुछ म्लान हो गयी! फिर भी तसल्ली के लिए बोली—"आख़िर खाना चुनने यहीं आवेंगे! ऐसा मीठा खाना उन्हें मिलेगा कहाँ?"

हाँ, बेला की ममता उनके स्मरण-पथ से मिट जाना क्या सहज है?

एक रोज़ हवा पानी बड़े जोर से आया। मैं दालान की तरफ़ का किवाड़ लगा कर सो गयी। बेला व्याकुलता से पूछ बैठी—"मा, बच्चे?"

मैं झिड़क पड़ी—"हाँ, झाड़-पेड़ के रहने वालों को अब पलँग मसहरी चाहिए!"

बेला दुबक कर पड़ रही।

बड़े भोर सुना, बेला फूट-फूट कर रो रही है। शीघ्रता से मैं निकली। देखा, छाता दूर पड़ा है, और घास-फूस के साथ बच्चों के काले रोएँ! अधचबाये पैरों के टुकड़े! डैनों के बिखरे हिस्सों में ख़ून के दाग़!"

ख़ूनी की निर्दयता से एक सुश्री सृष्टि विश्री हो गयी थी!

लेकिन क्या घातक जगत को धिक्कार देने के लिए वहाँ पर वही एक दृश्य था?

नहीं, सात वर्ष की बालिका के हृदय की ममतापूर्ण अनुभूति के सामने मेरी मातृ-अनुभूति अपनी अपूर्णता पर लजा कर क्षोभ में पर्यवसित हो गयी!

"हाय, बेला के याद दिलाने पर भी छाता कमरे के कोने में लाकर क्यों न सुरक्षित टाँगा?"

विधि-विधान

सन्ध्या के घनीभूत अन्धकार से, अँधेरे कमरे में, दीपक के प्रकाश की आभा पाकर, अन्धे पिता ने कहा—"लालटेन कौन जला रहा है ?"

"मैं जला रहा हूँ।"

"तुम हो कैलास ?"

"हाँ, पिता जी।"

"अच्छा, लालटेन को खूँटी पर टाँग कर मेरे पास जरा दो मिनिट आकर बैठो, बेटा।"

कैलास पिता के समीप आकर बैठ गया। पिता ने कैलास के एक हाथ को अपने हाथ में लेकर और दूसरे हाथ से उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटा, मैं तो अब अन्धा हो गया। जब जवान था तब, जवान ही क्यों, अभी २-३ साल पहले तक, रातों-दिन दौड़-दौड़ कर, गृहस्थी के सारे काम सँभाला करता था। पर लाचार हो गया हूँ। कहीं चल-फिर नहीं सकता। इसलिए अब तुम्हारे ऊपर गृहस्थी का सारा भार आ गया है।"

कैलास ने उच्छ्वसित आवेग से कहा—"कहिये, कहिये पिता जी, मेरे लिए आपकी कौन सी आज्ञा है ?"

पिता ने उत्तर दिया—"वही तो, वही तो मेरे बेटे ! मैं अँधेरे कमरे में अकेला बैठा हुआ अभी तक वही सोच रहा था। बेटा, मैं तुमसे निश्चिन्त हो गया हूँ। तुम्हारा छोटा भाई किशोर अभी स्कूल में

पढ़ता है। उसकी चिन्ता नहीं। पर गोमती सयानी हो रही है। उसके विवाह की चिन्ता मुझे है।"

कैलास बोला—"मैं स्वयम् गोमती के लिए एक अच्छे लड़के की तलाश कर रहा हूँ। आप चिन्तित न हों।"

पिता ने कैलास को अपनी छाती से चिपटा लिया और हृदय में आत्म-सुख से विभोर हुई निर्मल शान्ति का अनुभव किया।

इस बातचीत के लगभग तीन महीने के बाद पिता-पुत्र में एक दिन सन्ध्या के समय इस प्रकार फिर वार्त्तालाप हुआ।

कैलास बोला—"मैंने एक लड़का देखा है।"

पिता ने मानो एक इच्छित वस्तु को पाते हुए कहा—"कहो बेटा, वह लड़का तुमने कहाँ देखा है।"

कैलास ने उत्तर दिया—'पिता जी, यहीं शहर में। पर है वह देहात का, पिपरिया गाँव का। वही पिपरिया जो यहाँ से ३६ मील है। पक्की सड़क सिगरामपुर तक ३० मील और वहाँ से फिर देहात केवल ६ मील।"

"अच्छा, यह तो बताओ कि लड़का कैसा है।"

"लड़का २०-२१ वर्ष का है। साँवला, इकहरे बदन का, सुडौल, ऊँचा और तन्दुरुस्त।"

"तो कोई बुरा लड़का नहीं है। करता क्या है बेटा?"

"सिगरामपुर में मास्टर है। उसके पिता भी पिपरिया में मास्टर हैं। पिता २४) और लड़का १२) मासिक पाता है।"

"इससे अच्छा लड़का और कहाँ मिलेगा कैलास! अब तुम देरी न करो। जहाँ तक बने इस सम्बन्ध को तय करके शुभ मुहूर्त में विवाह रच दो।"

कैलास सोचता था कि देहात की बात सोच कर पिता जी एकदम अस्वीकार कर देंगे। पर ऐसा जान पड़ा, मानो उसके पिता ने बिना कुछ समझे जो राय क़ायम कर ली है वह उचित नहीं है। इसलिए

उसने कहा—"पिता जी, इस सम्बन्ध पर विचार करने के पहले और भी लड़के देखना उचित होगा।"

पिता ने कहा—"यदि तुम ऐसा करोगे तो पीछे पछताओगे। ऐसे पढ़े-लिखे लड़के नहीं मिलते। बेटा, अब तुम्हें कहीं भटकने की जरूरत नहीं। तुम पिपरिया जाओ और लड़के के पिता से खुद बातचीत करके सम्बन्ध ठीक कर आओ।"

कैलास ने सोचा—'क्या यह उतावली नहीं है? अवश्य ही, यह उतावलापन अच्छा नहीं। खैर, विवाह तो अभी होता नहीं। और देहात जाकर, इस बीच में लड़के के पिता से, इस सम्बन्ध में परामर्श करना अनुचित भी नहीं।'

उसने पिता से कहा—"तो पिताजी, मैं कल ही पिपरिया जाऊँगा।

और दूसरे दिन दोपहर को कैलास ने अपने अन्धे पिता की चरण-धूलि लेकर किराये से जाने वाली एक मोटर लारी में पिपरिया का रास्ता लिया।

वर का नाम था श्रीधर। श्रीधर के बहनोई जबलपुर शहर में ही रहते थे। उन्हीं के घर कैलास ने श्रीधर को देखा था। श्रीधर के बहनोई कैलास के हितू थे और इसी नाते उन्होंने श्रीधर का विवाह करने का संकेत किया था और राय भी दी थी कि वर के पिता से परामर्श करना उचित होगा। इसलिए कैलास ने श्रीधर को अपने आने की चिट्ठी २-३ दिन पहले से ही डाल दी थी।

जब वह सिगरामपुर पहुँचा तब उसे मालूम हुआ कि श्रीधर ने पिपरिया में २-३ दिन बिताने के लिये स्कूल से छुट्टी ली है।

कैलास को आशा नहीं थी कि एक अपरिचित व्यक्ति उससे इस प्रकार का सौजन्यपूर्ण व्यवहार करेगा। उसके चेहरे पर आनन्दोल्लास का एक तरंग-हिल्लोल खेल गया। दोनों व्यक्ति पिपरिया की ओर पैदल चल पड़े।

प्रायः आधा मील पहुँचने पर दोनों ने देखा कि श्रीधर के पिता रामसरन अपने एक और छोटे लड़के हरी को लिये चले आ रहे हैं।

सामना होते ही कैलास ने उन्हें प्रणाम किया और आश्चर्य से पूछा—"आप यहाँ कैसे आ रहे हैं?"

श्रीधर के पिता ने कहा—"सुना था कि आप आ रहे हैं, इस लिए चला आया।"

श्रीधर के पिता ने अब जरा बात खोल कर कहा—"हरी को भी लाना था। उसके स्कूल की गैरहाज़िरी बहुत हो चुकी है। आज ही रात को इसे शहर पहुँच जाना चाहिए।"

श्रीधर के पिता के साथ एक और व्यक्ति था। वह मोटर से शहर जा रहा था। कैलास ने कहा—"तो आप लौट चलिये। इस व्यक्ति के साथ ही हरी चला जायगा।"

श्रीधर के पिता ने कहा—"नहीं, अब आप लोग चलिये। आपको ५-६ मील चलना है। मैं तो देहाती हूँ। रात को भी चला आऊँगा तो कोई डर नहीं। मुझे यहाँ मोटर का इन्तजार करना पड़ेगा।"

जब कैलास और श्रीधर गाँव पहुँचे तब खूब अँधेरा हो गया था। जाड़े के दिन थे। श्रीधर की वृद्धा माता अँधेरी परछी में, गुरसी में कुछ लकड़ियाँ जलाये, अकेली बैठी हुई थीं, लकड़ियों के जलने से होने वाले मन्द प्रकाश से परछी में कुछ उजेला हो रहा था।

श्रीधर की माता अपने लड़के को देखने के लिए आने वाले अतिथि को देखते ही भीतर कोठे में चली गयीं। श्रीधर भी भीतर चला गया। कैलास वहीं जमीन पर बिछी हुई दरी पर बैठ गया।

इसी बीच में श्रीधर एक लोटा पानी और एक थाल लेकर आया और बोला—"अब अपने चरण पखार लेने दीजिये।"

कैलास का हृदय नैसर्गिक उल्लास के आवेग-प्रवाह को न रोक सका। उसका मुख लज्जा और उल्लास दोनों के विचित्र सम्मिश्रण से अरुणवर्ण हो गया। उल्लास उसे इसलिए हुआ कि श्रीधर कितना विनयी, कितना नम्र और कितना सहृदय है। गोमती के लिए सर्वथा अनुरूप है। अहो, ऐसे ही दम्पति अपने जीवन को सुखी बना सकते

है! लज्जा उसे इसलिए हुई कि श्रीधर मेरे पैर धोने के लिए उत्सुक हो रहा है।

प्रथम आगमन के कारण उसका यह सत्कार सर्वथा वांछनीय है। पर यह लड़का तो भविष्य में चल कर उसका बहनोई होने वाला है। उसके पैर उसे पूजना है। फलतः यह सोचते ही प्रकट में कैलास ने हँसते हुए कहा—"श्रीमान् कृपा कीजिये। परिश्रम करके, कष्ट देकर, परदेशी को लज्जित करना ठीक नहीं।"

घंटे भर में ही श्रीधर की माता ने ब्यालू करने के लिए इशारा किया। श्रीधर और कैलास दोनों साथ भोजन करने के लिए बैठे। कैलास ने देखा, सामने थाल में, श्रीधर की माता ने पूरियाँ, पापड़, खीर और सूरन की कढ़ी बड़ी रुचि के साथ सँभाल कर रख दी है।

कैलास ने कहा—"भाई आपकी माता के इस निर्मल एवम् स्वर्गीय स्नेह को देख कर मेरा चित्त आनन्द से गद्गद् हो गया है।"

श्रीधर ने उत्तर में कहा—"देहात है। यहाँ तरकारी-भाजी का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं। खैर, जो कुछ है, आपके सामने है।"

दोनों भोजन करने लगे। इसी समय बाहर अँगनाई में श्रीधर के पिता के आने की आहट मिली। श्रीधर के पिता ने बाहर से ही आवाज लगायी—"क्या हो रहा है श्रीधर?"

बेटे ने कहा—"हम लोग भोजन कर रहे हैं।"

"अच्छा अच्छा, तुम लोग भोजन करो।" मैं दूर से थका-माँदा आया हूँ, तब तक कुछ देर परछी में ही बैठता हूँ।"

यह सुनते ही श्रीधर मुख विवर्ण हो गया। वह अपने पिता के मनोभावों को अच्छी तरह जानता था। उसने सोचा, 'शायद पिता जी नाराज होकर बाहर परछी में बैठ रहे। कदाचित सोचते हों कि इन लोगों ने भोजन करने के पहले घर के बड़े-बूढ़े का क्षण भर भी इन्तजार न किया।' इसलिए उसने भीतर से ही पुकार कर कहा—

"नहीं नहीं, वहीं परछी में आग पर, लोटे में पानी गरम हो रहा है। हाथ-मुँह धोकर, आप भी आकर भोजन कर लीजिये।"

उत्तर में पिता ने उपेक्षा के भाव से कहा—"मुझ बूढ़े आदमी की चिन्ता न करो। मुझे तो रात को भूख ही नहीं लगती। जरूरत होगी तो थोड़ा दूध पीकर पड़ रहूँगा।"

श्रीधर और कैलास. बाहर आकर, परछी में जलती हुई गुरसी के के पास बैठ गये।

श्रीधर के पिता यद्यपि देहाती स्कूल के मास्टर थे, पर थे तो शिक्षक वयोवृद्ध और अनुभवी। उन्हें भी अपने मान और सम्भ्रम का ख्याल था। जिस समय उन्होंने सिगरामपुर के पास श्रीधर और कैलास को पिपरिया की ओर आते हुए देखा था, उसी समय उनकी त्योरियाँ चढ़ गयी थीं। उन्हें कैलास का व्यवहार अत्यन्त अप्रीतिकर प्रतीत हुआ।

उन्होंने सोचा, चाहे जो हो, 'यह व्यवहार मैं पसन्द नहीं कर सकता। क्या लड़का ही सब कुछ है? लड़के का पैदा करने वाला बाप कुछ है या नहीं! ओह! यह घोर अपमान!'

सोचते ही मानों उनकी छाती पर किसी ने जोर से एक लात मार दी हो।

उनकी वृद्धा पत्नी ने भोजन के लिए बड़ा ही आग्रह अनुनय किया, पर बदले में उन्होंने रोष में आकर उत्तर दिया—'तू भी आकर मेरा सिर चाट रही है। रहने दे, भोजन न करूँगा।'

'तो थोड़ा सा गरम दूध पी लो।'

'अगर नहीं मानती तो ला, ढकोस लूँ।'

श्रीधर की माता ने दूध का कटोरा लाकर उनके हाथ में दे दिया। कटोरा खाली करके वे चुप लेट गये।

कैलास और श्रीधर दोनों, जबान पर शिष्टाचार की मर्यादा का ताला डाले हुए आग तापते रहे।

दूसरे दिन बड़े तड़के कैलास श्रीधर के साथ हाथ-मुँह धोने के लिए नदी पर चला गया। जब वहाँ से वापिस लौटा तब उसने देखा कि श्रीधर के पिता, आँगन में, धूप में बैठे, मिरजई पहने, आँख पर चश्मा चढ़ाये देहाती डाकिये से डाक ले रहे हैं।

देखते ही कैलास से बोले—"बाबू जी, शहराती लोगों की तरह यहाँ के गँवई-गाँव के लोगों में भी, सवेरे-सवेरे गरम पानी पीने की आदत पड़ गयी है।" फिर श्रीधर से बोले—'बेटा जाओ, ज़रा आप के लिए भी चाय का प्रबन्ध कर दो।"

"पर, मैं तो चाय नहीं पीता।"—कैलास ने कहा।

"आश्चर्य. महान् आश्चर्य !"

श्रीधर ने उत्तर दिया—"अपनी-अपनी आदत तो है।"

"तो क्यों बेटा श्रीधर आपके लिए थोड़ा-सा दूध गरम करके ला दो" कहते-कहते उन्होंने अपने डॉक के काम पर फिर नज़र दौड़ायी।

श्रीधर की माता ने चाय के साथ ही साथ दूध भी पहले से गरम कर रक्खा था। उसने कटोरा भर दूध लाकर कैलास के हाथ में दे दिया और उत्सुकता के साथ पिता जी से बोला—"क्या बड़े भैया की कोई चिट्ठी आयी है?"

पिता ने उत्तर दिया—'वही तो बेटा। मैं भी उसी चिट्ठी की खोज कर रहा हूँ। चिट्ठी न जाने क्यों नहीं आयी? मेरी चिट्ठी का उत्तर तो दो दिन पहले आ जाना चाहिए था। अभी तक क्यों नहीं आया?"

श्रीधर और उसके पिता दोनों निराश हुए। बात यह थी कि श्रीधर के बड़े भाई प्रेमनाथ सिवनी जिले में नौकरी करते थे और महीने भर से बीमार थे। इसीलिए घर भर के लोग उनकी चिट्ठी की ओर टकटकी बाँधे रहा करते थे।

चिट्ठी न पाकर पिता-पुत्र हताश हुए और बड़े दुखी हो गये। पिता ने पुत्र से कहा—"बेटा, जान पड़ता है, बड़े भैया फिर से बीमार

हो गये, इसलिए वे चिट्ठी का उत्तर नहीं दे सके। मैंने यहाँ से दवाइयाँ भी भेजी थीं। पता नहीं, मिलीं या नहीं।"

श्रीधर चुप रहा। उसके पिता ने कैलास से कहा—"बाबू जी, प्रेमनाथ की बीमारी और चिन्ता के कारण हम लोगों को घर का कोई काम-काज नहीं सुहाता। हाय, पता नहीं, प्रेमनाथ पर क्या बीत रही है! यहाँ से ३०-३० मील की दूरी पर तारघर है। तार भी न समय पर दिया जा सकता है और न उसका उत्तर ही पाया जा सकता है।"

कैलास ने श्रीधर के पिता के साथ सहानुभूति दिखाते हुए एक ठंडी साँस ली और कहा—"आपकी विवशता का अनुभव कर रहा हूँ।"

श्रीधर के पिता ने कहा—"तो इसीलिए बेटा कैलास, जिस इच्छा और प्रस्ताव को लेकर तुम आये हो, उस सम्बन्ध में, इस समय घबराहट, चिन्ता और दुख के कारण मैं तुम्हें कोई उत्तर नहीं दे रहा हूँ। इसके सिवा प्रेमनाथ घर का सयाना लड़का है। जब वह अच्छा हो जायगा तब सुविधानुसार उससे सम्मति लेकर तुम्हें पत्र लिखूँगा।"

कैलास ने कहा—"आपकी कृपा के लिए मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगा।"

कैलास ने शहर लौटने की तैयारी कर ली। श्रीधर की माता ने दरवाजे की ओट में खड़े होकर कहा—"क्यों रे श्रीधर, तू ज़रा दो रोज़ के वास्ते इन्हें रुके रहने के लिए क्यों नहीं कहता?"

वे कैलास को सान्त्वना तथा आशामय निश्चित उत्तर देने के पक्ष में थीं। पर वे तो स्त्री थीं। उनकी कौन सुनता?

कैलास ने कहा—"मा जी, अब न रोको। ईश्वर प्रेमनाथ को शीघ्र अच्छा करें। उनके अच्छे होने पर मैं फिर तुम्हारी सेवा में आकर उपस्थित होऊँगा।" उसने आगे बढ़कर वहीं जमीन पर झुक कर अपना माथा टेक दिया।

कैलास के पिता ने कहा—"तो क्यों बेटा, लड़के के पिता मास्टर साहब ने कोई आशाजनक उत्तर नहीं दिया?"

"बड़े लड़के प्रेमनाथ की बीमारी के कारण उन्होंने ठीक जवाब नहीं दिया।"

"तब तो यह बिलकुल ठीक बात है बेटा। भला ऐसे अवसर पर किसका जी ठिकाने रहता है? अच्छा हुआ, उन्होंने उतावली नहीं की। उतावली का काम ठीक नहीं।"

"पर पिता जी, उनकी बातों से जान पड़ता है कि शायद उन्हें यह सम्बन्ध पसन्द नहीं।"

"यह तुम्हारी बड़ी भूल है, बेटा। वैसे तो निराशा में भी आशा का भरोसा बना रहता है। फिर बेटा, यह तो मास्टर साहब के बड़े लड़के प्रेमनाथ की बीमारी का कारण है। यह कोई उनका निश्चित् उत्तर नहीं?"

इस बातचीत के लगभग दो महीने के पश्चात् कैलास ने आकर अपने पिता को खबर दी—"पिता जी, लड़के की माता आज कन्या देखने के लिए आने वाली हैं।"

पिता ने तृप्ति-सूचक हँसी हँसते हुए कहा—"मैंने कहा था न, कि मास्टर साहब अपने बड़े लड़के की बीमारी के कारण ही निश्चित उत्तर नहीं दे रहे हैं। अब लड़का अच्छा हो गया होगा। इसलिए उन्होंने लड़के की माता को लड़की देखने के लिए भेज दिया। खैर बेटा देखना, उनके आदर-सत्कार में कोई त्रुटि न रहने पावे।"

कैलास के पिता वस्तुतः बड़े ही खुश हुए। इससे ज्यादा वे तब खुश हुए जब उनकी लाड़ली बहू सरला ने आकर कहा—"लड़के की मा ने लड़की को पसन्द कर लिया है। पर वे कहती हैं, लड़की को कौन हमें मास्टरिन बनाना है, इसलिए मैं ज्यादा पढ़ाना उचित नहीं समझती।"

कैलास के पिता ने कहा—"बहू, हमें इसकी जरूरत भी नहीं है। लड़की छठी कक्षा पास हो गयी है। बहुत पढ़ाई हो चुकी। अब लड़की को ज्यादा पढ़ाने की जरूरत ही क्या है?"

उन्होंने आगे कहा—"यह तो बता बहू, क्या श्रीधर की माता चली गयीं ?"

बहू ने कहा—"हाँ।"

"तो तूने उन्हें रोका क्यों नहीं ? भला उन्हें भोजन तो कराना था। बार-बार वे यहाँ क्यों आने लगीं ? और जब सम्बन्ध हो जायगा तब तेरे घर का भोजन करने में उन्हें क्या संकोच होगा।"

बहू ने कहा—मैंने उन्हें बहुत रोका, पर वे नहीं रुकीं। बोलीं, शाम हो गयी है। इसके अलावा साथ में कई स्त्रियाँ और छोटे-छोटे बच्चे हैं ?"

"भला-भला, इतने लोग थे उनके साथ में! और कौन-कौन था बहू ?"

"बहुत-सी स्त्रियाँ, लगभग १०-१२। लड़के की मँझली भावज। उसके दो बच्चे। लड़के की बहन और उसके तीन बच्चे और खुद लड़के की दो मौसियाँ। इसके सिवा पड़ोस की ५-६ स्त्रियाँ थीं।"

पास बैठे हुए कैलाश से उसके पिता बोले—"देखो, बेटा धीरज से काम बनता है। तुम समझते थे, शायद तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ होगा।"

बीच में बहू ने टोकते हुए कहा—"लड़के की माता एक और बात कह गयी हैं। कहती थीं कि लड़के का पिता सठिया गया है ! मैं उसे समझा-बुझा कर यहाँ जरूर भेजूँगी।"

पिता ने कहा—"बहुत अच्छा बहू।"

कैलास से बोले—"तो बेटा तुम ऐसा प्रबन्ध करो कि गोमती का विवाह बैसाख में जरूर हो जाय। यह फागुन चल रहा है। अभी दो महीने बाकी हैं। देखो, इन्तजाम में कोई कसर न रहने पावे।"

इस घटना के लगभग एक ही महीने के भीतर कैलास के पिता तीन दिन की बीमारी के पश्चात् स्वर्ग सिधार गये। उनके गुजरने के २०-२५ दिन बाद श्रीधर के पिता कैलास के इस आकस्मिक दुख में

समवेदना प्रकट करने के लिए आये। बोले—"क्या करूँ, हरी फिर से बहुत बीमार पड़ गया। मोतीझरा निकल आया, इसलिए इस मौके पर नहीं आ सका। ईश्वर ने यह जो विपत्ति का पहाड़ आपके सिर डाल दिया है, उसके बारे में क्या कहूँ! आप खुद समझदार हैं।"

कैलास ने कहा—"हम लोग मातृ-पितृ-हीन हो गये हैं। अब इस असहायावस्था में निराशा—केवल निराशा ही दिखायी पड़ती है। अब पिता नहीं मिल सकते। पर ऐसा जान पड़ता है पिता जी अपना समग्र उत्तरदायित्व आपके माथे रख गये हैं। मानो आज से आप ही हम लोगों के माता-पिता हैं, जैसी आज्ञा देंगे, सिर झुका कर स्वीकार करेंगे।"

श्रीधर के पिता बोले—"बेटा, तुम्हारा सोचना अनुचित नहीं! जान पड़ता है; तुम छोटी बहन के विवाह की सबसे ज्यादा चिन्ता कर रहे हो। पर चिन्ता न करो। उस दिन तुम घर में नहीं थे और मैं तुम्हारे पिता से मिलने आया था! तुम्हारे पिता ने मेरा हाथ पकड़ कर कहा था—"मुझ गरीब को भी निभा लेना 'मास्टर साहब' तब से मैं समझ रहा हूँ, इस काम-काज की सारी जिम्मेदारी मेरे ही ऊपर आ पड़ी है।"

कैलास को इन बातों से बड़ा ही धैर्य हुआ।

श्रीधर के पिता ने कहा—"हाँ तो अब मैं जाता हूँ। एक बात कहे जाता हूँ कि बड़े भैया प्रेमनाथ छुट्टी पर आने वाले हैं। अगर इस तरफ से आवें तो उनसे जरा मिल लेना।"

इसके तीन-चार महीने के बाद श्रीधर के बड़े भाई प्रेमनाथ से कैलास की भेंट हुई। यहाँ वहाँ की अनेक बातें होने के बाद कैलास ने पूछा—"श्रीधर के साथ मेरी बहन के विवाह की जो बात चल रही है वह तो आप अच्छी तरह जानते हैं।"

प्रेमनाथ ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"कहाँ, इस बारे में मुझे तो कुछ नहीं मालूम!"

कैलास ने इससे कई गुने ज्यादा आश्चर्य से पूछा—"तो क्या आपको इस सम्बन्ध में कुछ नहीं मालूम ?"

"जी नहीं !"

'मैंने आप के पिता जी को कई पत्रों में लिखा था कि आप इस सम्बन्ध में अपने जेठे लड़के प्रेमनाथ जी से भी लिखा-पढ़ी कर लीजिये ।"

"पर उन्होंने तो अभी तक मुझे कुछ नहीं लिखा । कहिये, यह बात कब से चल रही है ?"

"लगभग डेढ़ वर्ष से ।"

"आश्चर्य ! मुझे कुछ भी पता नहीं" प्रेमनाथ ने एक गुप्त अभिमान, ईर्ष्या, तिरस्कार और घृणा की भावभंगी को प्रकट करते हुए कहा—"तो आपने मुझे क्यों पत्र नहीं लिखा ?"

"मुझे आप का पता नहीं मालूम था ।"

"हाँ, ऐसी बात है !"

उसने भीतर ही भीतर सोचा, 'शहर के आदमी हैं और ऐसे भोले बन गये हैं !' प्रकट में कहा—"खैर कोई हर्ज नहीं । अब मैं गाँव जा रहा हूँ । सब लोगों को देखने ।"

"तो कृपया इस सम्बन्ध में अपने पिता जी की राय लेकर लौटने पर मुझे खबर दीजिये । वे तो मुझे कभी पत्र ही नहीं लिखते, न पत्रों का उत्तर ही देते हैं । हाँ, श्रीधर के पत्रों से मुझे आपके घर के समाचार मिल जाया करते हैं ।"

यह बात प्रेमनाथ को और भी ज्यादा बुरी लगी । उन्होंने कहा—'खैर' यदि सम्बन्ध आप जैसे प्रतिष्ठित और सम्पन्न व्यक्ति के यहाँ हो जायगा तो हम लोगों का इससे गौरव ही बढ़ेगा ।"

कैलास ने नम्रता से कहा—"इस अकिंचन को आप इस सम्मान के योग्य समझते हैं, यह आप जैसे सज्जन पुरुषों के योग्य ही है ।"

इसके एक सप्ताह के पश्चात् प्रेमनाथ और कैलास में इस प्रकार बातचीत हुई।

कैलास ने पूछा—"कहिये, मेरे लिए आप के परिवार की क्या आज्ञा है ?"

प्रेमनाथ बोले—"और तो सब ठीक है, पर आपको कम से कम एक वर्ष ठहरना पड़ेगा।"

प्रेमनाथ को आशा थी कि कैलास इस सम्बन्ध के लिए एक वर्ष ठहरना उचित न समझ कर इसे अस्वीकार कर देगा पर कैलास ने कहा—"इसमें बिलकुल आपत्ति नहीं। पर इतने दिन ठहरने का कारण ?"

"कारण और कुछ नहीं, हमारी आर्थिक अवस्था ठीक नहीं है। इस काम के लिए सात-आठ सौ की जरूरत पड़ेगी। उसी का प्रबन्ध करना होगा।"

"पर इतने रुपयों की जरूरत नहीं। यह काम बहुत किफ़ायत से—लगभग दो सौ में किया जा सकता है।"

"आप अभी ऐसा कर रहे हैं, पर जब काम होने लगेगा तब आप ही कहेंगे कि देखिये, हम इज्जत वाले आदमी हैं। बड़ों-बड़ों में हमारी प्रतिष्ठा है। इसलिए बरात इस ढंग से लाइये, विवाह इस तरह सम्पन्न कीजिये, जिससे हमारी प्रतिष्ठा, प्रतिपत्ति आदि में बट्टा न लगे, इत्यादि।"

"यह आपका नितान्त भ्रम है। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि ऐसी कोई आपत्ति न होगी। मैं तो चाहता हूँ कि विवाह का प्रधान संस्कार केवल पाणिग्रहण हो और उसमें जितनी भी सादगी रक्खी जा सके, रक्खी जाय।"

प्रेमनाथ ने उत्साह-सूचक शब्दों में कहा—"तो बड़े हर्ष की बात है। मैं नौकरी पर जा रहा हूँ! वहाँ से सारी बातें पिताजी को लिखूँगा और उनके समुचित उत्तर से आपको सूचित करूँगा।"

प्रेमनाथ ने अपने पिता से सुन रक्खा था कि कैलास श्रीधर को देहाती स्कूल से निकाल कर, शहर के स्कूल की मास्टरी दिलाकर उसके भविष्य का पथ निष्कंटक तथा उज्जवल करना चाहता है। इसलिए इस बात को सोच कर, सभी ओर से स्वार्थ – केवल स्वार्थ की ही सिद्धि देख कर, प्रेमनाथ ने कहा—"मैं कहता हूँ, अब आप निश्चिन्त रहें। हम दोनों मिल कर इस कार्य को निर्विघ्न समाप्त करेंगे।"

इसके पश्चात् और पाँच-छः महीने बीत गये। पर प्रेमनाथ का कोई पत्र न आया। श्रीधर के पिता को भी कैलास ने पत्र लिखे, पर उन्होंने एक का भी उत्तर न दिया। अन्ततः कैलास के धैर्य का भी बाँध टूटने लगा। उसने सोचा, 'लड़की वाले लड़के वालों की निगाह में इतने अकिंचित्कर, उपेक्षणीय और हेय होते हैं!'

कैलास का आत्माभिमानी दिल बैठ गया। पर नहीं, उसके मर्माहत हृदय में अब भी एक आशा शेष थी। वह आशा थी श्रीधर। वह जानता था कि श्रीधर की उसके साथ पूरी सहानुभूति है। श्रीधर भी सोचता था कि इस सम्बन्ध पर उसका भावी जीवन बहुत कुछ निर्भर है। वह जानता था कि सम्भव है, इस सम्बन्ध से मुझे नागरिक जीवन का सुख-सौभाग्य प्राप्त हो सके, इसलिए वह इस सम्बन्ध के सफल होने की आन्तरिक कामना कर रहा था।

कैलास पारस्परिक कल्याण की भावना को जानता था। ऐसी परिस्थिति में जब उसका वेदना-कंटकित हृदय फटने लगा तब उसने सोचा कि कम से कम श्रीधर के पास पहुँचा जाय और हृदय को शान्ति पहुँचायी जाय।

कैलास श्रीधर के पास पहुँचा। बड़े आदर-सत्कार के साथ दोनों मिले। श्रीधर के सहयोगी अध्यापक थे। वे भी आ पहुँचे। दूसरे दिन कैलास के वापिस होने के समय उन्होंने कहा—"श्रीधर, यह बात अच्छी नहीं कि तुम्हारे माता-पिता, भाई-बन्धु चुप बैठे हैं और उन्हें

कोई निश्चित उत्तर नहीं देते। लगभग दो लम्बे वर्ष गुजर गये, पर कोई निश्चित उत्तर नहीं मिला।"

कैलास ने विस्मित होकर कहा—"तो क्या अब भी कोई शंका है ?"

श्रीधर के मित्र ने कहा—"मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है। इस उदासीनता से तो यही जान पड़ता है कि वे सम्बन्ध नहीं करना चाहते।"

कैलास ने मोटरलारी पर बैठते हुए आश्चर्य से कहा—"मैं क्या जानूँ ? श्रीधर, भला आपका क्या कहना है ?"

श्रीधर सहसा गम्भीर हो गया। काटो तो ख़ून नहीं। वह न 'न' कह सकता था और न 'हाँ'। 'न' कहने से भविष्य की उसकी सारी महत्वाकांक्षाओं पर पानी फिर जाने की सम्भावना थी और 'हाँ' कहने से अपने माता-पिता तथा भाइयों के सामने वह स्वेच्छाचारी और और ग़ुलाम सिद्ध होता।

वह कुछ भी उत्तर न देकर बोल उठा—"मैं भी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता।"

कैलास ने आवेश में आकर कहा—"तो कौन जानता है ? इसका उत्तर कौन देगा ?"

मोटरलारी चल पड़ी। कैलास ने पीछे लौटकर देखा कि श्रीधर और उसके मित्र दोनों जो अब तक टकटकी बाँधे लारी की ओर देख रहे थे, लारी के पीछे उड़नेवाली धूल में विलुप्त हो गये।

उसके हृदय में एक तूफ़ान ज़ोर से उठकर, उसके हृदय के भीतर के खिले हुए, भिन्न-भिन्न महत्वाकांक्षाओं के फूलों और लहलहाते हुए नन्हें पौधों को उखाड़ता हुआ चला गया।

अब मानों वही तूफ़ान मोटरलारी के पीछे रह जानेवाले दो व्यक्तियों की रूप-रेखा को, उसके विभ्रान्त विस्मृति-पट से मिटाकर, उसे सामने की ओर बरबस ढकेले लिये जा रहा है !

कैलास मानों मूर्च्छित-सा होकर, अपनी सीट से टिक कर, बैठ रहा। पर उसके क्षत-विक्षत हृदय से टकराकर अब भी यह प्रतिध्वनि गूँज रही थी—

"इसका उत्तर कौन देगा ? इसका उत्तर कौन देगा ?"

मज़दूर

कलकत्ते के एक दैनिक पत्र के किसी पिछले अंक में यह समाचार प्रकाशित हुआ था—हावड़ा की एक गली में कल एक शोचनीय घटना हो गयी। एक मज़दूर अपनी स्त्री और बच्चों के साथ अपनी कोठरी में मरा हुआ पाया गया। आत्महत्या का सन्देह होता है। पुलिस खोज कर रही है।

इस तीन लाइन के समाचार के ऊपर किसी रईस के पुत्र-जन्मोत्सव का विवरण आधे कालम में था। इसलिए किसी ने आँख उठाकर भी उसे न देखा। फिर भी इस दुर्घटना का सारा हाल मुझे अवगत है।

एक तंग कोठरी १२ फीट लम्बी और ८ फीट चौड़ी, जिसके द्वार पर सूर्य की किरणें प्रभात के समय पल-भर मँडरा कर ओझल हो जाती थीं! जिसकी चौखट पर आते ही हवा के झोंके बेसुध होकर पलट पड़ते थे।

उस गली से होकर मुहल्ले की नाली निकलती थी। कीचड़ और दुर्गन्ध, मच्छर और कीड़े! कमरे की दीवारें सील से सड़ी हुई, जिनमें चूहों के बिल और छत पर चमगीदड़ों के अड्डे!

बरसात में गली में बहुधा जलप्रलय आ जाता था। कभी-कभी नाली से निकल कर दो-चार साँप दीवार पर रेंगते थे। छत की कमानियों से लटक कर कोठरी के अधिवासियों को निर्निमेष नेत्र से ताका करते थे। तब भोला मुँह अँधेरे काम पर जाने के पहले बिलों में

कपड़े जमाकर ठूँसता और सोते हुए बच्चों पर साँप से बचने का मन्तर फूँक कर चल खड़ा होता !

पाँच बच्चे......एक, दो, तीन, चार, पाँच ! उसकी स्त्री मुनिया ने पाँच साल में पाँच बच्चे जन दिये थे। सब नंगे ! भूखे ! पीले ! सदा रोगी !

फ़र्श पर एक फटी हुई चटाई बिछी थी। पड़ोसी जुम्मन के मरने से भोला को केवल इतना लाभ हुआ था। चटाई पर बोरिये और बोरियों पर फटी हुई दुलाई और उन पर भोला, मुनिया और उनके बच्चे !

दूसरे कोने में चूल्हा और मिट्टी के बरतन। अलगनी पर कई फटे-पुराने कपड़े लटके हुए। लकड़ी के सन्दूक मे गिलट के गहने, बच्चों की तावीज़ और भोला की रामायण ! सामने दीवार पर हनुमानजी का एक भयोत्पादक चित्र, जिसे बच्चे सुबह उठकर सहमे-सहमे प्रणाम करते थे। यह था उस कमरे का सरंजाम !

मुँह अँधेरे 'स्वराज मिल' की सीटी काल-निनाद के समान वातावरण को कँपा देती थी। भोला चौंक कर उठ बैठता और कपड़े पहन कर भागाभागा मिल की ओर चल पड़ता था।

कपड़े ? हाँ ! हाँ ! भोला के पास कपड़े भी थे ! उसके बच्चे नंगे थे, पर उसके पास कपड़े थे। मिल-स्टोर से वह अपने लिए धोती और मुनिया के लिए साड़ियाँ खरीद लाया था। सेठजी ने उसे एक पैसा फ़ी-गज छूट दी थी। भोला उन्हें आशीर्वाद देते हुए कपड़े उठा लाया था। बच्चों के लिए भी उसने पाँच जोड़े कपड़े बनाये थे—एक वर्ष पहले—और अब वे फट गये थे। सेठजी ने उसे कपड़े उधार दे दिये थे—केवल दो पैसा फ़ी-गज़ सूद पर ! हाँ, तो भोला कपड़े पहने ठीक छः बजे मिल के फाटक पर पहुँच जाता था !

प्रातःकाल छः बजे से सन्ध्या छः बजे तक, भोला मशीनों पर चिपटा रहता था। बीच में दो घंटे का अवकाश मिलता था, जिसमें

रामभरोसे से सत्तू ख़रीदकर वह खा लेता और उसी की दूकान के भीतर थोड़ी देर लेट रहता था।

फिर वही मशीनों की गड़गड़ाहट ! उनके कलपुरजों का भयंकर जन्तुओं के समान ऐंठना, तिलमिलाना, बल खाना और अपने अचेतन अवयवों को मज़दूरों की ओर फैलाना !

मज़दूरों का खून पसीना बनकर निकलता और मशीनों पर टपकता था। और मशीनें स्वभावानुसार कभी गिरती थीं, कभी उछलती थीं ! कभी मानवी मशीनों को अपना क्रीतदास पाकर अट्टहास कर उठती थीं !

शाम को मिल से सब मज़दूर निकलते थे। थकावट से चूर ! पाँव लड़खड़ाते हुए ! निर्वाक् ! निःशब्द ! सिर से लेकर पाँव तक धुएँ के कारण धूमिल और कपड़े तेल व तारकोल में लथपथ !

उनमें से कुछ ढीठ ठर्रे का अद्धा मुँह से लगाये, कुत्सित गालियाँ बका करते थे और सब हँसने का प्रयत्न करते थे। उनकी हँसी नर-कंकाल के विकट हास्य के समान जान पड़ती थी !

भोला की गली के मुहाने पर सड़क धोने के लिए फुटपाथ पर मैले पानी का एक नल लगा हुआ था। उसके नीचे बैठ कर रोज़ शाम को वह नहाया करता था। उसके बच्चे अपने मैले और सूखे हुए हाथ उसके शरीर पर रखकर अपनी मुरझायी हुई आवाज़ में 'दद्दा' कहा करते थे। तब भोला को भान होता था कि उसकी आँखों से गर्म आँसू की बूँदें निकल कर नल के मैले पानी में मिल रही हैं !

नहा कर वह अपनी कोठरी में न जाता था। वह जानता था कि उस समय मुनिया रसोई कर रही होगी। धुएँ के भबके निकास की राह न पाकर कोठरी में पर तौलते थे। आँखों में, कान में, नाक में साँस के साथ धुँआँ घुस जाता था। मुनिया आँखें पोंछते हुए, खाँसते हुए, रोटियाँ पकाया करती थी !

प्रत्येक शनिवार को भोला को दस आना प्रतिदिन के हिसाब से तीन रुपये १२ आने मिल जाते थे। भोला रुपयों को ठोक बजाकर देखता और गाँठ में बाँध लेता था।

परिवार के लिए वह उत्सव का दिन होता था। भोला बच्चों के लिए गुड़ की जलेबियाँ और मुनिया के लिए सड़े हुए आमों में से छाँट कर कुछ अधसड़े आम खरीदता। हनुमान जी के चित्र को धूनी देने के लिए अगर की बत्ती खरीदना भी वह न भूलता था।

उस दिन भोला की उदासी दूर हो जाती थी। कन्तू साव के यहाँ बैठकर वह आधी लबनी ताड़ी भी पी लेता था। भोला कभी-कभी प्रसन्न भी हो सकता था!

उक्त दुर्घटना के एक दिन पहले की बात है। जड़काले के दिन थे और दुनिया कुहासे और अँधियाले की चादर ओढ़े हुई थी। मिल की सीटी बजते ही भोला उठा और चुपके से दिया जलाकर मुनिया के पास गया, जो दुलाई ओढ़े जमीन पर पड़ी थी। मुँह पर प्रकाश पड़ते ही मुनिया ने कष्टपूर्वक एक उसाँस भरी और करुण नेत्रों से भोला की ओर देखा!

छः महीने से वह रोग-शय्या पर पड़ी हुई थी, और अब वह रोग-शय्या मृत्यु-शय्या में बदल गयी थी। भोला ने धीरे से उसके कपाल पर हाथ रखा और चमक कर 'ओह' कह उठा! माथा जलता तवा हो रहा था! भोला ने खैराती अस्पताल की दवा मुनिया के मुँह से लगायी; अपने बड़े बेटे को जगाया और सीधा मिल की ओर भागा। जमीन उसके पैरों के नीचे से खिसकी जाती थी!

छः महीने? हाँ, मुनिया छः महीने से बीमार थी! एक दिन रसोई पकाते-पकाते खाँसी के साथ उसके मुँह से खून गिर पड़ा था। तब से उसे बुखार रहने लगा था। खून बराबर आता था। हाथ पाँव गिरे जाते थे। यहाँ तक कि तीन मास से दो क़दम चलना भी दूभर था।

भोला उसे रिक्शा में लादकर डाक्टर सेन के पास ले गया था। डाक्टर ने परीक्षा करके भोला से कहा था कि रोगिणी को क्षयरोग हो है। रोग अभी असाध्य न था। किसी पहाड़ की हवा......सफ़ाई...... रोशनी......दूध और फल......डाक्टर ने यही तो कहा था।

भोला उसके हाथ में पाँच रुपये रखकर अपनी स्त्री को लिये हुए चुपचाप उसी कोठरी में लौट आया था। तब से प्रायः हर रात को सोते में बर्राया करता था—

'दूध और फल......रोशनी और हवा। डाक्टर की......मुनिया के थूक में खून......बच्चे उसे चाटते......।"

सचमुच में उसके सपने बड़े डरावने और घिनौने हुआ करते थे। कभी-कभी वह देखता था कि मुनिया का कलेजा उसके मुँह से निकल पड़ा! उसमें इल्लियाँ हैं—लम्बी-लम्बी—और वे सरसराती हुई बच्चों के कानों में घुस रही हैं!

तब भोला चौंक कर उठ बैठता था। कड़कती हुई सरदियों में भी वह पसीने से शराबोर हो जाता था! हृदय की धड़कन की आवाज वह साफ़ सुन सकता था!

मुनिया के बिछौने के पास मिट्टी का एक प्याला रखा हुआ था, जिसमें वह थूकती थी। बच्चे सुबह-शाम प्याले बदल दिया करते थे। मक्खियाँ रक्त-मिश्रित थूक पर बैठती थीं; फिर अपने पंखों में उसे लिपटा कर बच्चों के मुँह पर भिनभिनाती थीं!

चूल्हे के पास बैठ कर छुज्जू, रमनी की सहायता से रोटियाँ पकाता था और तीनों बच्चे बाहर गटर में खेलते थे। गटर में कूड़े-करकट के साथ कभी-कभी फलों के छिलके और मिठाई की जूठन निकल आती थी। बच्चे गटर में उतर कर अच्छी तरह उसकी तलाशी लेते और जब कभी खाने की कोई चीज मिलती तो किलकारी मार कर मैले पानी के नल के पास पहुँच कर उसे धोते और फिर बाँट कर उसे खा जाते।

सड़क के मोड़ पर किसी सराफ़ की ऊँची हवेली थी, जिसके पीछे की कोठरी में एक कुत्ता बँधा रहता था। उसकी झबरेदार दुम और मुलायम बालों में नौकर प्रतिदिन ब्रुश किया करता था। दोनों बेला उसके लिए दूध और शोरवा आता था। बच्चे उस शानदार कुत्ते को ईर्ष्या पूर्वक देखते, कभी बचे हुए दूध को लोलुप नेत्रों से ताकते और मन में सोचा करते कि काश, हम कुत्ते होते !

नन्हा सरजू एक बार साहस बाँध कर ऊँघते हुए कुत्ते के सामने से दूध का प्याला खिसका लाया था। तीनों बच्चों ने दूध को चख कर देखा था। उस पर कैसी मोटी मलाई पड़ी हुई थी !

तब से बच्चे सोचा करते थे कि सराफ़ के कुत्ते होते तो कितना मजा था !

मुनिया को दवा पिला कर उस का पति काम पर चला गया। छज्जू ने उठ कर चूल्हा जलाया और दूध गरम करके अपनी मा के पास ले आया। कोढ़ीखाने का नौकर यह दूध दो आने सेर बेचा करता था। मुनिया वही दूध पीती थी।

फिर छज्जू आटा और लकड़ी लेने के लिए बाजार चला गया। बच्चों के कोलाहल का रव बाहर गली से आ रहा था। मुनिया ने कराह कर करवट बदल ली। उसकी स्वप्निल आँखें अतीत की स्मृति से शिथिल होने लगीं !

कभी वह भी जवान थी ! उसके अंग-अंग से लावण्य टपकता था ! और भोला ? कैसा सजीला जवान था वह ! खेत की मेड़ पर बैठ कर पहट को जब वह बाँसुरी बजाता था तब मुनिया की गगरी आप ही आप कैसे छलकने लगती थी !

फिर एक दिन भोला ने सुनसान अरहर के खेत में उसकी बाँह कैसे थाम ली थी ! इधर-उधर नवल हरीतिमा, ऊपर आकाश और दिन का उजाला ! और खेतों के बीच में किसान का प्रेम-प्रदर्शन ! मुनिया को वह दिन खूब याद था !

पर विवाह होते ही उनकी गृहस्थी पर जैसे शनि सवार हो गया। लगातार तीन साल पानी नहीं बरसा। भोला ने लाख जतन किये पर जमीन्दार ने उसे तकावी नहीं मिलने दी।

बात यह थी जमीन्दार मुनिया पर रीझ गया था। एक दो बार राह चलते छेड़खानी भी की थी। पता चलते ही भोला गँड़ासा लेकर जमींदार पर दौड़ पड़ा था! तकावी का मूल्य था—स्त्री का सतीत्व!

भोला इसके लिए तैयार न हुआ। बनिये से वह एक आना रुपया सूद पर रकम लेकर वह लगान दे आया था!

मुनिया की बन्द पलकें आँसुओं से भींग गयीं। उसे वह दिन याद आया जब बनिया पुलिस की सहायता से उन्हें जमीन से बेदखल कर रहा था। उधर जमींदार उनका सामान झोपड़ी से निकलवा रहा था!

भोला की आकृति पाषाण के समान कठोर हो गयी थी। खेत में सरसों फूल रही थी! हवा उनसे छन-छन कर गुनगुनाती जाती थी—"कुछ नहीं है, कुछ नहीं है।"

मुनिया अपने दोनों बच्चों को गोद में लिये अपने सामान को देखती और रोती थी। पति के जीते जी उसका सुहाग लुट रहा था!

इसके बाद उसका जीवन इस अँधेरी, दुर्गन्धमय कोठरी में सदा के लिए परिबद्ध हो गया। गरमी में उबलना! जाड़े में ठिठुरना! बरसात में भींगना! साँप, बिच्छू, मच्छर और खटमल!

मुनिया का अन्तस्तल चीख उठा! पहले उसका पति संसार के लिए अन्न पैदा करता था। वह किसान था। अब वह कपड़े के मिल में काम करता था। वह मजदूर था। फिर भी वे सब एक-एक मुट्ठी अन्न को क्यों तरसते थे? एक-एक गिरह कपड़े को क्यों मोहताज थे? मुनिया इस रहस्य को न समझ सकी! फिर भी संसार के प्रति उसका हृदय घृणा से परिपूर्ण हो गया!

सामने हनुमान जी सन्तोषपूर्वक अपनी दुम हिला रहे थे। मुनिया का जी चाहने लगा कि उस चित्र को तोड़ कर चूल्हे में झोंक दे। कितनी अगर की बत्तियाँ सूँघी थीं हनुमान जी ने! फिर भी भूख, बीमारी सन्ताप की मात्रा बढ़ती ही जाती थी!

बाहर गटर के पास बच्चे खुशी से चिल्ला रहे थे—"वह देख केला—साबूत है—नीचे से सड़ा है—और वह अमरूद......।"

उस दिन शाम को जब भोला मिल से लौटा तो पैर एक-एक मन भारी हो गये थे। आँखों के आगे हर चीज उड़ी-उड़ी सी जान पड़ती थी! मालूम होता था कि वह किसी आग के झरने में तैर रहा है।

एक महीना पहले 'स्वराज मिल' के प्रबन्धकों ने २५ प्रतिशत मजदूरी कम करने का नोटिस दिया था। आज नोटिस की मियाद समाप्त होने पर मजदूरों ने हड़ताल की धमकी दी, जिसके जवाब में अनिश्चित काल के लिए मिल बन्द करने की घोषणा कर दी गयी थी।

भोला ३ रुपये १२ आने मुट्ठी में दबाये जैसे यमलोक की ओर जा रहा था। तीन रुपये बारह आने!

यह यमलोक का किराया था!

भोला मुनिया की बीमारी, बच्चों की भूख है और अपनी बेकारी सब कुछ भूल गया! अभी उसके सामने रहमान काबुली की सूरत काल के समान घूम रही थी!

मुनिया के इलाज के लिए भोला ने तीन महीने पहले ५० रुपये उधार लिये थे, आना रुपया सूद के हिसाब से। और एक रुपया प्रति सप्ताह देने पर भी मूल अभी ज्यों का त्यों बना हुआ था। तीन महीने का वादा कई दिन पहले समाप्त हो चुका था। लाख टालमटूल करने पर भी काबुली का असन्तोष बढ़ता जाता था।

भोला चोर के समान आगे-पीछे देखता चलता था। मन ही मन दुर्गा का पाठ कर रहा था कि आज तो वह न मिले। आज की रात ज्यों-त्यों गुजर जाय!

मगर, हाय रे मोह ! उसकी गली की मोड़ पर ही काबुली यमदूत के समान अपना काल दंड लिये खड़ा था। रक्त, मांस और हड्डियों का एक ढाँचा ! जो मशीन से भी अधिक निर्मम था !

भोला भय से काँप उठा ! पिटे हुए कुत्ते के समान वह काबुली के आगे ठिठक गया।

काबुली के मुँह पर जंगली घास-पात के समान चारों ओर बाल उग आये थे। दाँत भेड़िये के समान पीले और तेज़ थे। उसने लाठी पर भार देकर कहा—"रूपी निकालो भाई, रूपी—अम ज्यादा बात नईं माँगता। अड़तालीस रूपी चार आना।"

भोला ने सिटपिटा कर कहा—"आगा साहब, अब तक तो कोई इन्तजाम नहीं हो सका। घर वाली के रोग के कारण किसी भाई बन्द के घर न जा सका। एक हफ़्ते और धीरज धरिये।

काबुली ने अपने बड़े-बड़े पंजे फैला कर कहा—"रूपी, रूपी ! अम घर वाली को नईं जानता ! जब वह अच्छा था तब साला रूपी नईं माँगा। फिर तो अम माफ़ कर देता !"

भोला के ठंडे खून में कुछ गरमी आ गयी। उसकी आँखों के आगे वह दृश्य घूम गया जब वह गँडासा लेकर जमींदार पर टूट पड़ा था। पल भर बाद ही वह अपनी परिस्थिति को समझ गया। चिरौरी-विनती करके ख़ान गालियाँ बकता हुआ एक महामारी के समान लाठी से ज़मीन नापता दूसरी ओर चला गया।

भोला कुछ देर तक चित्रलिखित सा वहीं खड़ा रहा। फिर वह एक लम्बी साँस लेकर मुहल्ले के पार्क की ओर चल पड़ा। एक सुनसान कोने में वह घास पर गिर पड़ा।

उसके चारों ओर कैसी चहल-पहल थी ! कैसी अठखेलियाँ थीं ! कैसी रंगरेलियाँ थीं ! धनिकों के बच्चे अपनी दायाओं के साथ किलोलें कर रहे थे ! आकाश में तारे खिले हुए थे ! धरती पर पेड़ और पक्षी मगन थे ! सब चराचर प्रसन्न थे—एक के सिवा—और वह अभागा मजदूर था !

अपना पूरा जीवन उसे आँसुओं में तैरता दिखायी पड़ा। एक आह और एक आँसू ! यह थी उसके जीवन की बिसात !

ये बच्चे कितने स्वस्थ और प्रसन्न थे ! उनके शरीर मखमल के समान कोमल थे ! मगर भोला के बच्चों ने क्या पाप किया था ? अगर भूखे ही मरना था तो वे पैदा क्यों हुए ?

भोला अपने आप को धिक्कारने लगा। उसने इन बच्चों को क्यों पैदा किया ? संसार का कौन-सा सुख उनके लिए था ? पैदा होने के बाद ही वे कुत्तों के साथ गटर में खेला किये। बड़े होने के बाद वे क्या करेंगे ? भीख या जेब कतराई। इसके सिवा वे क्या करेंगे ? बीमार होने के बाद वे एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर मरेंगे। ऐसा क्यों होता है ?

भोला संसार, समाज और ईश्वर—सब को पड़ा-पड़ा कोसने लगा ! एक असहाय, शक्तिहीन बूढ़े के समान वह सब को कोसने लगा !

कल सुबह होगी। मुनिया फिर खून थूकेगी। बच्चे 'भूख ! भूख !' चिल्लायेंगे। काबुली 'रूपी, रूपी' का शोर मचायेगा ! मिल बन्द होगी। उसपर मौत का सन्नाटा होगा।

मौत—मिल की ! नहीं; बेकार मजदूर की ! भोला की ! उसकी बीमार स्त्री की ! उसके बच्चों की !

मौत ! बीमारी ! भूख ! बेकारी !

भोला को चारों ओर बीमारी के कीड़े और यमदूत उड़ते हुए दिखायी दिये। उनके आसपास अथाह गढ़े थे जिनमें संसार का सारा धन-वैभव समा रहा था।

मौत ! बीमारी ! भूख ! बेकारी ! इनसे कहीं निस्तार न था !

रात को जब भोला घर लौटा तो उसके हाथ में मिठाई का एक बड़ा-सा दोना था ! उसके पैर लड़खड़ा रहे थे ! आँखें उलटी पड़ती थीं और मुँह से शराब की दुर्गन्ध निकल कर धुएँ, कुहासे और नाली की सड़ायन को और भी कष्टकर बना रही थी।

जीवन में उसने पहली बार शराब पी थी—पूरी एक बोतल ! बहुत दिनों के बाद वह इतनी सारी मिठाई लाया था ! एक सेर ! और वह भी रुपये सेर वाली !

उसके सलूके के जेब में एक शीशी थी, जिसे वह बड़ी सावधानी से छिपाये हुए था !

भूखे बच्चे रोते-रोते सोने की तैयारी कर रहे थे। मिठाई का दोना देखते ही वे आकुलतापूर्वक उस पर टूट पड़े। भोला ने उन्हें चुमकार-पुचकार कर उन्हें रोका और मुनिया के सिर पर झुक गया। वह उसे कातर नेत्रों से ताक रही थी !

थोड़ी देर तक दोनों चुपके-चुपके न जाने क्या कहते रहे। बच्चों ने केवल इतना देखा कि भोला की आँखों से आँसू की बूँद निकल कर उनकी माता की अश्रुसिक्त पलकों पर गिर पड़ी !

कितनी व्यथा, कितनी यातना, कितनी बेकली छिपी थी उन चार बूँद आँसुओं में !

आँसू विद्रोह की भाषा है ! रक्त विद्रोह की रोशनायी है। थूक विद्रोह की लेखनी है ! आँसू, खून और थूक ! उस अँधेरी कोठरी में समाज के अत्याचार के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे थे !

दूसरे दिन दोपहर को उस कोठरी से ऐसी तीव्र दुर्गन्ध उठने लगी कि पड़ोसियों के दिमाग तिलमिला उठे। नाली में रोज मरे हुए चूहे सड़ा करते थे। इसकी बास सहने की उन्हें आदत हो गयी थी। पर भोला की कोठरी से जो बू उठती थी उसमें कोई निराली बात थी। सारी गली की हवा जैसे जहरीली हो गया हो !

और वह दुर्गन्ध बढ़ती ही जाती थी। अगर उसे रोका न गया तो वह संसार भर में फैल जायगी और सारा मानव समाज उसमें साँस लेकर घुट कर मर जायगा।

कोठरी का दरवाजा तोड़ा गया। अन्दर पाँचों बच्चे एक दूसरे से लिपटे पड़े थे ! मुनिया और भोला के ओठ मिड़े हुए थे और उन

पर मौत की मुसकराहट खेल रही थी! हर चीज काली, धुंधली और उदास जान पड़ती थी! हनुमान जी के सदा-प्रसन्न मुख पर भी कालिमा दौड़ गयी थी।

फौरन् पुलिस को इत्तिला की गयी। पुलिस वालों ने नाके बन्द करके कमरे को एक पल देखा। मिठाई के दोने और शीशी को देख कर सिर हिलाया। पड़ोसियों से दो चार बातें पूछीं और वापस चले गये!

आधे घंटे के बाद दो मेहतर मुर्दा ढोने की गाड़ी लिये हुए पहुँचे और सातों को उन पर लाद दिया!

मोड़ पर सर्राफ़ अपने मकान की दीवार के पास खड़ा चींटियों को चीनी खिला रहा था। एक मोटा साँड वहीं पड़ा हुआ कभी पूरियों को खाता था, कभी उगलता था। कुत्ता दूध पीकर अघा गया था और अपने जबड़ों को चाट रहा था।

सर्राफ़ मुर्दागाड़ी को देख कर चबूतरे पर उचक पड़ा!

"जमादार, किसकी लाश है?"

"इसी गली में कोई भोला मजदूर रहता था; सेठ जी! माई-पिल्ले सब ज़हर खाकर मर गये। पेटफोड़ी लिए जाते हैं।"

सेठ ने तोंद सहलाते हुए कहा,—"हूँ! कुत्तेको बहुत तंग करते थे ये पिल्ले! अरे छोटू, चबूतरे पर गंगाजल छिड़क दे! ऐसे आदमियों से तो हमारे जानवर अच्छे हैं!"

ऊँचे-ऊँचे मकानों और बन्द रास्तों से उलझती हुई हवा गुनगुनाती आती थी—"कुछ नहीं है, कुछ नहीं है!"

बिजली

जिसमें प्रतिभा है उसे रंग जमाते देर नहीं लगती। देखिये, कैसे ढंग से बात शुरू की गयी है कि पढ़ने वाले को अपने आप आगे का हाल जानने की उत्सुकता होती है :—

"है तो तारा, परन्तु शक्तिशालिनी महामाया है क्या ? नहीं; बालि की स्त्री ? नहीं; बृहस्पति की भार्या ? नहीं हरिश्चन्द्र की रानी भी नहीं ! अजी, इस पाँचवीं तारा को आप तब जानेंगे जब आगे पढ़ेंगे।"

एक बार मैं भी अपनी प्रतिभा की अग्नि-परीक्षा करता हूँ। देखिये ! आसमान में चमक कर ठीक राजा बलि की छाती पर गिरने वाली बिजली वह नहीं थी। हमारे साइन्स मास्टर की बतलायी धन-विद्युत भी नहीं थी और मार्टिन कम्पनी की बदौलत गली-गली टिमटिमाने वाली बिजली तो वह बिल्कुल थी ही नहीं। हमारी बिजली......।

परन्तु आपके ऊपर इस भूमि का तो कुछ असर ही नहीं हुआ। इस धन-विद्युत, ऋण-विद्युत और मार्टिन कम्पनी की ठूँसठाँस ने सारा मजा ही किरकिरा कर दिया ! इससे अच्छा तो यह होता कि हम सच बात ही लिख देते कि हमारी बिजली आँखें चौंधिया देने वाली, कलेजा हिला देने वाली और यदि आप अतिशयोक्ति न समझें तो एक ही कड़क से अनेक गर्भपात करा देने वाली बिजली थी। काल्पनिक नहीं, यथार्थ थी !

और थी वह रानी ! सारी प्रजा उससे थर-थर काँपती थी, उसके आँख के इशारे से चलती थी। परन्तु बुरा हो इस मनहूस इश्क़ और उस बेईमान मोती का ! राज गया, पाट गया, इज्जत गयी, हुकूमत गयी और आगे क्या हुआ वह भी सुनिये।

एक दिन वह कुछ चुने हुए मुसाहिबों के साथ वायुसेवन कर रही थी कि दूर से मोती आता हुआ दिखायी पड़ा। उसे देख कर वह ठिठक गयी। अपने साथियों से कहा—'देखो तो यह कौन उजड्ड की तरह चला आ रहा है।"

ग़ौर से देखकर मुसाहिबों ने कहा—"अपने राज्य की प्रजा तो नहीं है, महारानी ! कोई अजनबी जान पड़ता है।"

पास आ जाने पर भी जब मोती ने आदाब, कार्निश कुछ नहीं की, तब बिजली की आँखों से आग बरसने लगी। वह रानी थी। उसे अपनी प्रतिष्ठा का ज्ञान था। एक परदेशी उसके राज्य में, उसी से; ऐसी अभद्रता का व्यवहार करे ? असम्भव ! उसे शिक्षा देने के लिए वह उस पर तूफ़ान की तरह टूट पड़ी !

परन्तु मोती पहाड़ की तरह अचल खड़ा रहा। शान्ति पूर्वक उस के वार को बचा कर मोती ने पूछा—"अरे, अरे; यह क्या करती हो ?

पैंतरा बदलते हुए बिजली ने कहा—"तेरी हेकड़ी की सजा देती हूँ। ले सँभल !"

मोती ने मुस्कराते हुए कहा—"वाह ! अतिथि का स्वागत तो इस राज्य में बहुत अच्छा होता है ! अच्छा, मेरा पौरुष ही देखना है तो अपने सेनापति को भेजो। हम लोग स्त्री-जाति पर हमला करना निन्दनीय समझते हैं "

बिजली सोचने लगी—'यह उजड्ड क्या बकता है, कुछ समझ में नहीं आता !' उसने पूछा—"तूने क्या कहा 'अतिथि ?'"

मोती—'और क्या ?'

बिजली—'अतिथि क्या ?'

अब की मोती की हँसी चारों ओर गूँज गयी। उसने कहा—'बड़े असभ्य हो तुम लोग! 'अतिथि' भी नहीं जानते? अरे जो परदेशी तुम्हारे घर आ पहुँचे वही अतिथि है।"

बिजली—'बिना बुलाये; बिना पूछे?'

मोती—'क्या हर्ज है! यदि कोई बिना बुलाये; बिना पूछे ही आ गया तो क्या वह दुश्मन हो गया?'

बिजली—'तो तुम अतिथि का क्या करते हो?'

मोती—'उसका आदर-सत्कार करते हैं। उसे रोट और गुड़ खिलाते हैं। फिर उससे आने का कारण पूछते हैं और जहाँ तक हो उसकी सहायता करने का प्रयत्न करते हैं।'

बिजली—'ठहरो, जरा ठहरो! रोट और गुड़ क्या?'

मोती ने खिलखिला कर कहा—'अरे तुम लोग तो निरे जंगली जान पड़ते हो। रोट और गुड़ भी नहीं जानते। अच्छा तुम्हारे यहाँ राजा रानी क्या खाते हैं। तिथि त्यौहार में तुम लोग क्या खाते हो?'

मोती का व्यंग सुन कर सेनापति ने कहा—'जरा होश में आकर बातें करो। यदि फिर से महारानी की शान में जंगली अंगली शब्दों का प्रयोग किया तो याद रखना हड्डी-पसली तोड़ दूँगा।

इतना कह वह आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा, परन्तु बिजली ने कहा—"जरा सुनो तो इसकी नयी-नयी बातें। अच्छा जी अतिथि, तुमने कभी कटहल खाया है?"

अब की मोती ने आश्चर्य से कहा—'कटहल क्या है?'

बिजली और उसके मुसाहिब हँसने लगे। बिजली ने कहा—'आइये, आपको कटहल खिलायें।'

सब लोग जंगल में घुस पड़े। ढूँढ़ते ढूँढ़ते एक कटहल का पेड़ मिला। कुछ फल तोड़े गये। बिजली ने पूछा—'कैसा है?'

मोती ने कहा—'अच्छा है, परन्तु गुड़ गुड़ ही है. उसकी मिठास को यह थोड़े ही पा सकता है।'

बिजली—'सच ?'

मोती—'किसी दिन सच-झूठ का निपटारा हो जायगा।'

बिजली ने कहा—'खैर, आपका सत्कार तो हो चुका। अब आप अपने आने का कारण भी बतला दीजिये।'

मोती की आँखों में एक शरारत की लहर दौड़ गयी। वह शहर का रहने वाला था। लच्छेदार बातों से मतलब निकालना जानता था। छेड़ का मौका पहचानता था उसने धीरे से कहा—'मैं यहाँ आया हूँ एक रानी की तलाश में।'

सेनापति की आँखों में खून उतर आया। वह मन ही मन अपने को बिजली का प्रेम-पात्र समझता था। एक परदेशी से इस तरह घुल घुल कर बातें करता देख वह यों ही जला जा रहा था। अब इस बेहूदी छेड़ से उसका कलेजा तिलमिला उठा। उस की छाती से एक हुँकार निकल पड़ी!

परन्तु बिजली पर इस छैलचिकनिये का चक्र चल चुका था। एक तीक्ष्ण दृष्टि से उसने सेनापति को ठंडा कर दिया। उसकी प्रजा जानती थी कि बिजली के प्रहार के सामने 'बिजली' का प्रहार भी कुछ नहीं है। उसने मोती की ओर मुड़ कर पूछा—'तो क्या तुम राजा हो ?'

मोती ने कुछ रुष्ट होकर कहा—'और तुमने क्या समझा था कि कोई खवास हूँ ?'

बिजली—'नहीं, नहीं; यों ही पूछा है ?'

मोती—'पूछा क्या ? देखती नहीं हो ?'

बिजली—"क्या ?"

मोती ने अपने माथे की ओर इशारा कर दिया। बिजली और उसके साथियों ने देखा कि मोती के माथे पर कुछ लाल सफेद चित्रकारी सी बनी हुई है।

बिजली ने पूछा—'यह क्या है ?'

मोती—'इतना भी नहीं मालूम ?'

बिजली—नहीं ।'

छाती फुलाकर, माथा उठाकर, मोती ने कहा—'यह राज-तिलक है, राजाओं के माथे का आभूषण है ।'

बिजली ने एक व्यंगपूर्ण दृष्टि सेनापति की ओर फेंकी, जिसका मतलब था—'देखा ?'

सेनापति तनिक भी विचलित नहीं हुआ । माथे का चन्दन-बन्दन देखते हुए मोती के कान के पास कुछ घाव सा देख लिया था । उसे बुजुर्गों के कहे हुए कुछ किस्से याद आ रहे थे । उसने कहा—"जरा राजा साहब से यह तो पूछिये कि उनके कान में क्या लग गया है ।'

केवल एक क्षण के लिए मोती कुछ विचलित सा हुआ । परन्तु उसकी स्वाभाविक धूर्तता तुरन्त आड़े आगयी ।

'क्या कहा कान के पास ?'

"हाँ"

"मर्दों को ऐसी चोटें लगनी ही रहती हैं । इनका जिक्र ही क्या ?'

'फिर भी'

'अजी मामूली सी बात है । मैं चला जा रहा था कि झाड़ी में से एक शेर झपटा ।'

शेर का नाम सुन कर सब लोग कुछ चौकन्ने हो गये । जानते थे कि अकेले दुकेले शेर का मिलना और मौत का मिलना बात एक ही है ।

बिजली ने पूछा—"फिर क्या हुआ ?"

मोती—होता क्या ? उसका सिर पर आना था कि मैंने पास ही एक पीपल के पेड़ से सिर भिड़ा दिया । बेटा बहुत कुड़मुड़ाये परन्तु

जब तक अँतड़ियाँ नहीं निकल पड़ीं तब तक मैं बराबर दबाये ही गया।"

बिजली ने फिर सेनापति पर व्यंग-वर्षा की। सेनापति ने मन ही मन कहा—"देखा जायगा। जो गरजता है वह बरसता नहीं।"

मोती इस राज्य में आकर आबदार हो गया। जो इज्जत बिजली की थी, वही उसकी भी थी। कभी-कभी हजरत को भँवर दिखायी पड़ने लगता, परन्तु धूर्तता के सहारे वह किनारा काट जाया करता था।

एक दिन खबर मिली कि राज्य में एक शेर घुस आया है। हमले की तैयारियाँ होने लगीं। मौका देखकर सेनापति ने कहा—"सब लोगों की जान की क्या जरूरत है? राजा साहब तो अकेले एक शेर के लिए काफी हैं।"

मोती बगले झाँकने लगा। झट एक बहाना सूझ गया। उसने कहा—"अजी ऐसे सैकड़ों शेर इन पैरों तले रौंद चुका हूँ। क्या कहूँ आज मैंने मिट्टी खाली है, (जुलाब ले लिया है), लाचारी है नहीं तो........।"

बीच ही में बिजली ने घुड़क कर सेनापति से कहा—"तुम हमले की तैयारी करो और बीच-बीच में अपनी राय मत ठूँसा करो।"

उसने मोती से कहा—"अच्छा, अच्छा, मोती! तुमने मिट्टी खाली तो आराम करो। हम लोग अभी हमले से लौट कर आते हैं।"

मोती ने कहा—"क्या कहूँ, बिजली, दिल के अरमान दिल ही में रह गये।"

बिजली—"खैर, फिर देखा जायगा।"

मोती जो जानता था कि रोज-रोज तो शेर से युद्ध होता नहीं। एक बार अलफ़ कटी सो कटी।

शिकार से लौटने पर मोती ने पूछा—"क्या हुआ?"

बिजली—"शेर का कचूमर निकल गया, यद्यपि हमारे दो साथियों को बहुत चोट आयी।"

मोती—"अरे, तुमने उसे मार क्यों डाला ?"

बिजली—"तो क्या करते ?"

मोती—"पकड़ कर पिंजड़े में बन्द कर देते"

बिजली—"पिंजड़ा क्या ?"

मोती—'पिंजड़ा नहीं जानतीं ? कटघरा जिसमें दुश्मनों को कैद किया जाता है।'

बिजली—"हमारे यहाँ तो पिंजड़ा नहीं है।"

मोती—"अच्छा, मैं अपने आदमियों से बनवा कर भेज दूँगा।"

बिजली—"आदमी क्या।"

मोती—'आदमी नहीं देखा ? दो पैर का एक दुर्बल जीव होता है, जो हमारे खिलाने-पिलाने और लीद उठाने की नौकरी किया करता है।"

इन बातों ही से मोती की इज्जत थी। बिजली उसकी रसिकता और अनुभवशीलता-पर मुग्ध थी। उसके गिरोह की इतनी हिम्मत नहीं थी कि उसकी मर्जी में दखल देता।

एक दिन इसी प्रकार गप-शप करते मोती और बिजली एक गाँव के किनारे आ गये। गन्ने के खेत को देखकर मोती के मुँह में पानी आ गया। उसने बिजली से कहा—"आओ तुमको एक नयी चीज खिलाऊँ। दोनों खेत में पिल गये। बिजली को तो जैसे अमृत मिल गया।

मोती ने पूछा—"कैसा है ?"

बिजली—"क्या बतलाऊँ ?"

मोती—"कटहल से ?"

बिजली—"कहाँ गन्ना, कहाँ बिचारा कटहल।"

मोती—"यदि इस रस को जमा कर कोई कटहल के समान भेले तुम्हें दे दे तो ?"

बिजली—"तो बस जीवन सफल हो जाय।"

मोती—"अच्छा तो सुनो बिजली; इसी रस से गुड़ बनाते हैं, गुड़ !"

बिजली—"नहीं ?"

मोती—"मैं कहता हूँ—इसी रस को जमा कर गुड़ बनाते हैं।"

बिजली—"और तुम अपने राज्य में रोज गुड़ खाते हो ?"

इसके जवाब में मोती ने ज़रा सा मुस्करा दिया। स्त्री-सुलभ कटाक्ष का प्रयोग करते हुए बिजली ने कहा—"मोती मुझे तुम अपना राज्य न दिखाओगे ?"

मोती—"दिखाऊँगा"

बिजली—"कब ?"

मोती को दाँव हाथ लगा। उसने कहा—"जब तुम रानी बनना स्वीकार कर लोगी।"

बिजली ने लजा कर कहा—"तो क्या मैं तुम्हारे कहने से किसी तरह बाहर हूँ ?"

अब गन्ना खाना रोज का कार्यक्रम हो गया। पहुँचते-पहुँचते राजा तक खबर पहुँची कि फलाँ गाँव में हाथी बड़ा ऊधम मचा रहे हैं। तुरन्त सैनिक, प्यादे, महावत इत्यादि भेजे गये। भुजबल महावत ने मोती को देखते ही पहचान लिया। जिस रोज से मोती भागा था, बिचारा नौकरी से बरखास्त कर दिया गया था। आज उसकी जान में जान आयी। दूसरे दिन गुड़ मँगवाया गया। जान पर खेल कर भेले हाथ में लिये भुजबल आगे बढ़ा। उसने पुकारा—"मोती, बेटा, ले-ले।"

मोती ने देखा—गुड़ ! भुजबल !! उसके हृदय में संग्राम होने लगा। कहाँ यह स्वतन्त्र वायु-मंडल, बिजली का प्रणय और कहाँ वह केवल आध सेर की भेली। नहीं जाऊँगा, एक बार स्वतन्त्र हो गया हूँ। अब फिर से सांकलों में नहीं बँधूँगा ! अंकुश से नहीं बिंधूँगा !

भुजबल ने फिर से पुकारा—'अरे बेटा भूल गया क्या ? ले तो ! आ ! गुड़ खा ले।'

मोती ने सोचा—"आह ! कितने दिन हो गये गुड़ खाये ? स्वतन्त्र वायु मंडल में और सब अच्छा है परन्तु शेर का हमला ? बाप रे ! एक बार मिट्टी खाने का बहाना कर के बच चुका हूँ। फिर वही मौका आया तो क्या करूँगा ? बेचारे दो साथी तो उस हमले की भेंट हुए। कौन जाने अब की मेरी ही बारी हो। इससे अच्छी तो अंकुश ही की मार है। कान सड़ जाता है पर जान तो नहीं जाती। और बिजली ? बिजली तो अब मेरी बिना दाम की दासी है। खूब शग़ल रहेगा। 'रोट और गुड़, और बिजली !!'

मोती ने एक परिचायात्मक 'किर !' की आवाज दी। भुजबल की बाछें खिल गयीं। पहचान लिया बेटा'—कहते हुए वह कुछ आगे बढ़ा।

'कौन है बड़ी देर से टें-टें लगाये हुए है। दूँ हजरत को एक दुम' बिजली ने कहा।

मोती—'अरे कहीं ऐसा करना भी मत ! मेरा पुराना नौकर है।'

बिजली—क्या कहता है।'

मोती—'कहेगा क्या ? गुड़ लाया है और लाया है प्रजा की वापस लौट चलने की फ़रयाद।'

बिजली—'गुड़ ?'

मोती—'हाँ'

बिजली—'चलो न, खा कर देखें।'

मोती—'मोती'

मोती बढ़ा, बिजली भी साथ हुई। भुजबल के जीवन-मरण की समस्या उपस्थित हो गयी। उसके कुरते में अंकुश छिपा था। चारों ओर भाले वाले भी छिपे थे। जरूरत पड़ने पर वह एक बार मोती से लोहा ले सकता था। परन्तु यह नवीना ? जिसको न 'धत' का शऊर

न 'मल' का ? अब सोच विचार का अवसर नहीं था। उसने निश्चय किया कि या तो लड़के को भी महावती मिलेगी या लड़के की माँ विधवा होगी।

मोती ने गुड़ की भेली बिजली की ओर बढ़ा दी। दूसरी भेली उसने मुँह में डाली। गुप्तचर प्रकट हो गये। भेलियों का ढेर लग गया। दोनों ने जी भर गुड़-सेवन किया। कृतज्ञता से बिजली पानी-पानी हो गयी। जब भुजबल को सिर पर चढ़ा कर मोती आगे बढ़ा तब बिजली भी बिना किसी आपत्ति के पूँछ की तरह उसके पीछे लग गयी।

राजधानी पहुँचते-पहुँचते मोती के जी में आया—लौट चलूँ। उसके ठिठकते ही खच से अंकुश कान खरौंच गया। उसने सोचा—'मैं तो डूबा परन्तु बिजली के लिए अब भी समय है।' उसने पुकारा—'बिजली!' बिजली आगे बढ़ी। उसका वह गोल-मटोल शरीर! उसका वह यौवन! उसका वह सौन्दर्य! और उसकी वह मस्तानी चाल जिस की नकलमात्र से कवि झूमने लगते हैं!

मोती फिसल पड़ा। उसने कहा—'बिजली, जरा साथ-साथ चलो, अब राजधानी में प्रवेश करना है।' बिजली ने कहा—'बहुत अच्छा।'

भीड़ को मोती ने प्रजा, हथसाल को महल और महावतों को नौकर चाकर बतलाया, परन्तु जब रोट गुड़ खाते हुए किसी ने धीरे से पैरों में साँकल डाल दी तब बिजली को अपने अधःपतन का ज्ञान हुआ।

वह बहुत उछली, कूदी, चिल्लायी। मोती पर दाँत पीस कर उसकी ओर बढ़ी, परन्तु मोती की और उसकी स्थिति विभिन्न थी। वह पुराना गुलाम था। उसकी बेड़ियाँ खुली हुई थीं और बिजली थी अभी नयी फँसी हुई चिड़िया! मोती भाग खड़ा हुआ। उसके लिए दूसरे हथसाल की तजवीज की गयी।

दिन प्रतिदिन बिजली के साथ क्रूरता का व्यवहार होने लगा। रोट और गुड़ की जगह अब सूखी घास और पीपल की पत्तियों पर

गुज़र होने लगी। वह 'धत' कहते ही बैठ जाती और 'मल' कहते ही साँकल पिराये हुए पैरों में लँगड़ा-लँगड़ा कर चलने लगती। यदि इन आज्ञाओं के पालन में तनिक भी आनाकानी हुई तो चार पहर के दिन बिना दाना पानी के काटने पड़ते थे। जहाँ जाती, सर पर महावत होता और कान पर अंकुश! आगे चार छः बल्लमधारी और पीछे सवार।

मार खाते खाते कान पक गये, रोते-रोते आँसुओं की लकीर बन गयीं और अपनी पिछली हालत के लिए बिसूरते-बिसूरते, जिस शरीर के गठन की धूम थी, उस में हड्डियाँ दिखने लगीं।

मोती ने देखा तो मुँह फेर लिया; उसकी आँखों से भी दो बूँद आँसू गिर पड़े।

उसने कहा—'बिजली माफ़ करो। इस तरह जान देने से क्या फ़ायदा ?'

बिजली व्यंगपूर्वक मुसकरायी। उसने मन ही मन कहा—'ठहर रे धूर्त! तुझ से तो किसी दिन बदला लेकर ही रहूँगी।'

इस प्रतिज्ञा के बाद बिजली का स्वभाव शान्त हो गया। महावत ने समझा, अब वह हिलमिल गयी। धीरे-धीरे पीठ पर हौदा रखा गया, फिर भी बिजली ने कुछ आपत्ति नहीं की। और कुछ दिन ठहर कर साँकलें खोल दी गयीं।

एक दिन राजा साहब की शिकार की तैयारी हुई। उन्होंने महावत को बुलवा कर पूछा—'बिजली हाँके में जायगी ?'

महावत—'जायगी अन्नदाता !'

महीनों के बाद जंगल देख कर बिजली का हृदय प्रसन्न हो उठा। उसने सोचा चलूँ; अब मुझे रोकने वाला कौन है ?' परन्तु चारों ओर मनुष्यों की भीड़ थी। सिर पर महावत तो था ही पर पीठ पर हौदा, लिये हुए वह अपने साथियों को कौन मुँह दिखलावेगी। फिर अभी मोती से बदला लेना बाकी था। वह मन मार कर रह गयी।

हाँका शुरू हुआ। उसकी घ्राणशक्ति ने शेर का पता दिया। उसके हृदय में फिर से पुराना जोश जाग्रत हो उठा। वह भूल गयी कि वह कैदी है, दासी है, सेविका है। थोड़ी देर के लिए शेर और हमले के अतिरिक्त सब कुछ लोप हो गया। उसकी गति को रोकना कठिन हो गया।

शेर निकला। राजा साहब ने बन्दूक चलायी परन्तु गोली उछाती लगी। शेर घायल होकर नाले में घुस गया।

मोती बुलाया गया। वह काँपता हुआ आया। राजा साहब बैठे, परन्तु मोती टस से मस न हुआ।

इधर बिजली रोके नहीं रुकती थी। राजा साहब बिजली पर आ बैठे। बिजली ने जाते-जाते कहा—'आइये न मोती साहब, आप तो शेर को पिंजड़े में बन्द कर लेते हैं।'

मोती ने कहा—'चुप राँड़।'

बिजली ने कहा—'ठहर रे पाजी।'

बिना किसी सहायता के बिजली ने घायल शेर का पीछा किया। अचानक शेर नाले में से बिजली पर उछला। बिजली ने भी तड़प कर पैतरा बदला, परन्तु आपसी मारकाट के पहले ही राजा साहब की गोली शेर की छाती पार कर गई। फिर भी बिजली झपटी और उसके सिर पर पैर रख कर मचमचाने लगी।

उस दिन से बिजली राजा साहब की पटरानी नहीं तो चहेती अवश्य हो गयी। रोट और गुड़ की कौन कहे, जब वह शिकार से लौटती तो जलेबियों के ढेर लग जाते। दूसरे, चौथे राजा साहब खुद आकर उसकी मिजाज-पुर्सी किया करते!

परन्तु इतना सब होते हुए भी बिजली का जी अपने राज्य के लिए व्याकुल रहता। दूसरों की कृपा प्राप्त करना उसको शेवा नहीं था। वह रानी थी। दूसरों पर कृपा करना ही उसका शेवा था।

एक दिन चराते-फिराते महावत उसे घाटी पर ले गया। उधर से मोती भी आ पहुँचा। दोनों महावत उतर कर चिलम तमाखू पीने लगे। बहुत दिनों के बाद बिजली ने मोती से हँस कर बातचीत की।

मोती ने सोचा—'अब रँडों में कुछ सभ्यता आयी है।"

मोती घाट पर खड़े हो बिजली को पत्तो तोड़-तोड़ कर देने लगा।

बिजली ने देखा यही समय है। उसने खेल ही खेल में सिर भिड़ा दिया और लगी मोती को पीछे धकियाने। जब मोती बिल्कुल किनारे जा लगा, तब उसने कहा—'बस, बस, अब पीछे खाई है।'

बिजली ने कहा—'उसी खाई में ढकेल कर तुझे धूर्तता की सजा दूँगी; रे दुष्ट!'

मोती 'अरे अरे' कहता रह गया और बिजली ने उसे सौ फ़ीट नीचे ढकेल ही दिया।

अब भी वह जगह मोती की कब्र के नाम से प्रसिद्ध है। वह महावतों की ओर मुड़ी। रंग-ढंग देख कर वे लोग झाड़ पर जा चढ़े थे। बिजली ने उनकी ओर देख कर कहा—'दो पैर के लाद उठाने वाले दुर्बल जीव! जाओ; तुम्हें छोड़े देती हूँ।' यह कह कर उसने जंगल का रास्ता लिया!

इस समय बिजली के हर्षोल्लास का पारावार नहीं था। एक अर्से के बाद, अपने शत्रु को मार कर, दूसरे के राज्य में ख्याति प्राप्त करके, अपने राज्य को लौट रही थी। इस बीच में उस पर कैसे-कैसे ज़ुल्म हो चुके थे!

उसने सोचा—'कुछ हर्ज नहीं। अनुभव से ही योग्यता आती है। पहले मुझ में शक्ति थी, परन्तु ज्ञान नहीं था। अब वह कमी भी दूर हो गयी। पहले मैं अधूरी रानी थी, अब पूरी रानी हूँ।'

जैसे-जैसे घर पास आने लगा बिजली की उतावली बढ़ने लगी। कितनी परेशान हुई होगी उसकी प्रजा? कितना ढूँढ़ा होगा? कितना वियोग मनाया होगा!

उसका हृदय उमंगें ले रहा था। कैसे राज्य में पहुँचूँ ? कैसे संगी साथियों से अपना सब हाल कह डालूँ ?

चाल की तेज़ी से ज़मीन हिलने लगी। दूर ही से उसने अपने गिरोह को देखा। अपने आप एक हर्षपूर्ण किलकारी निकल पड़ी।

बिजली की तूफ़ानी चाल से गिरोह को पहले ही कुछ अनहोनी का पता चल गया था। वह आक्रमण या बचाव के लिए तैयार खड़ा था। किलकारी से बिजली को पहचान गया। कुछ लोग स्वागत के लिए बढ़े, परन्तु सेनापति ने डाँट कर कहा—'ठहरो !'

बिजली ने पहुँचते ही कहा—'अरे, पहचानते नहीं, मैं तो हूँ। बिजली—तुम्हारी रानी !'

सब लोग सेनापति का मुँह देखने लगे। उस ने एक तीक्ष्ण निगाह बिजली पर डाली। उस एक निगाह से उसे अनेक बातों का पता चल गया। उसने दाँत पीस कर कहा—'कुलटा ! कलंकिनी ! रानी बनने आयी है—जा उस मोती के पास ! यदि एक भी कदम बढ़ाया तो इस बेशर्म ज़िन्दगी से भी हाथ धोना पड़ेगा।'

बिजली पर मानो घड़ों पानी पड़ गया ! उसने कहा—"क्या बकते हो सेनापति ? जिस मोती को ताना देते हो उसे अभी-अभी मौत के घाट उतारे चली आ रही हूँ, समझे !"

सेनापति—"क्यों ? क्यों ? वह तो बड़ा सभ्य था, बहादुर था, राजा था। यहाँ काला मुँह लेकर आयी है राज्य करने ! उसी के साथ सती क्यों नहीं हो गयी ?"

अब बिजली तमतमा उठी। उसने दूसरों की ओर देख कर कहा—"खड़े क्या हो रे कायरो ! लाज नहीं आती तुम्हें अपनी रानी का अपमान कराते ? फोड़ दो इस दुष्ट का सिर !"

एक बूढ़े मुसाहिब ने हँस कर कहा—"कौन रानी और कहाँ की रानी ? जो गैरों के सामने हमारा अपमान करे और कराये, जो परम्परा को लात मार कर भाग जाय, जिसके माथे पर कलंक का

टीका लगा हो, क्या वह हमारी रानी हो सकती है ? जा, चुड़ैल ! जा ! आज हम लोग परतन्त्र बिजली की नहीं—स्वतन्त्र सेनापति की प्रजा हैं।"

यह सुन कर बिजली पिल पड़ी। बुड्ढे के सिर पर उसने धम्म से दिया ! उसे तो दुनिया लाल-पीली दिखने लगी, परन्तु आजू-बाजू और पीछे से उस पर इतने प्रहार हुए कि उसे डर लगा कि कहीं... ।

अभी वह अन्तिम युद्ध के लिए तैयार नहीं थी। एक ओर खड़े हो कर उसने लम्बी साँस ली और कहा—"जाओ रे अत्याचारियो ! तुम्हें भगवान देखेगा।"

अब बिजली न घर की थी न घाट की ! जिस ओर रास्ता मिला, चलती हुई ! कभी आबादी और कभी वीराने में गुजर होने लगी !

पहुँचते-पहुँचते फिर राजा साहब के पास खबर पहुँची। वे तो स्वयम् बिजली के लिए व्याकुल थे। मोती के मरने का उन्हें उतना दुख नहीं था जितना बिजली के भाग जाने का। इधर महावत ने समझा दिया था कि बिजली के मिलने से मोती के अभाव की पूर्ति हो सकती है। प्यादे अहलकार सुराग लगा ही रहे थे। गरज यह कि बिजली फिर एक बार राज-दरबार में हाजिर की गयी और इसके थोड़े ही दिनों बाद छोटे-मोती का जन्म हुआ।

बिजली के हृदय में घोर प्रतिहिंसा की आग धधक रही थी। छोटा मोती उसे अपनी ओर खींचता और अपमान का प्रतिकार अपनी ओर ! जब तक माता की ममता का खिचाव रहता तब तक बिजली सीधी तरह रहती, महावत का कहना मानती राजा साहब को शिकार खिलाती। परन्तु जैसे ही उसे अपमान की याद आती कि वह पागल हो उठती थी !

उसके पागल होते ही घर-घर के दरवाजे बन्द हो जाते थे। दफ़्तर अदालत यहाँ तक कि डाक का बँटना भी बन्द हो जाता। पुरुषों के

हृदय में आतंक छा जाता ! स्त्रियाँ उसकी भयानक चीत्कार से थरथरा जातीं और बच्चे नींद से चौंक-चौंक उठते थे !

जब बिजली पागल होती दो-एक आदमियों का ख़ून अवश्य करती ! जिन खेतों में पिल पड़ती उन्हें चौपट कर देती ! घरों के छप्पर खींच लेती और दीवारें ढहा देती ! उसके पागलपन की हालत में प्रत्येक नगर-निवासी को जीने और मरने की बराबर-बराबर सम्भावना रहा करती थी।

हाँ, तो जैसे प्लेग के प्रकोप, पृथ्वी के कम्पन, ज्वालामुखी के स्फोटन या वायुयानों के बम्ब-करण से- यहाँ-वहाँ आतंक फैल जाया करता है, उसी प्रकार बिजली के पागलपन से राजधानी में साल में दो एक बार तहलका मच जाया करता था !

आप कहेंगे कि ऐसी सत्यानाशिनी को तो तोप के मुँह पर रख कर उड़ा देना चाहिए। पर आप राजा तो नहीं हैं—हाथी की क़दर क्या जानें ? बिजली में जो ख़ूबियाँ थीं; उनकी हमको आप को तमीज़ नहीं हो सकती।

आप कटोरे में पानी भरे हुए बिजली की पीठ पर दस-बीस मील चले जाइये, पानी हिलेगा तक नहीं। नदी दोनों पाट लबालब चली जा रही हो, बिजली उसे तीर की तरह पार कर जायगी। वह बिजली ही की छाती थी कि तीन मन के हौदे पर राजा साहब और उनके चँवर-बर्दारों को बैठा कर दशहरे में इस तरह निकालती थी जैसे राजा रामचन्द्र की सवारी !

और शिकार ? क्या कहना है ! बिजली पर बैठ कर मांद से शेर मार लाना कोई बात ही नहीं थी ! अड़ोस-पड़ोस के राजा तक बिजली पर निछावर थे ! राजधानी में किस के कन्धे पर दो सिर थे जो बिजली को मारने की सोचता ? बिजली राज्य की शोभा थी ! उसके लिए साल में दो चार ख़ून माफ़ थे !

दो चार रोज तो बिजली राजधानी और उसके आस-पास अपनी रक्त-पिपासा बुझाती और उसके बाद जंगल में घुस जाती! महीना पन्द्रह दिन में छोटा-मोती, महावत, बक्समदार, भालेदार इत्यादि उसकी तलाश में भेजे जाते और काफी परेशानी के बाद फिर से बिजली रानी नगर में प्रवेश करतीं! उनका शरीर घावों से छिन्न-भिन्न होता; परन्तु भालों की चोटों से सिरों की टक्करों के घाव ही अधिक होते थे। इन टक्करों में सेनापति के कितने मुसाहिबों की मृत्यु का इतिहास छिपा रहता था, यह भगवान ही जाने!
